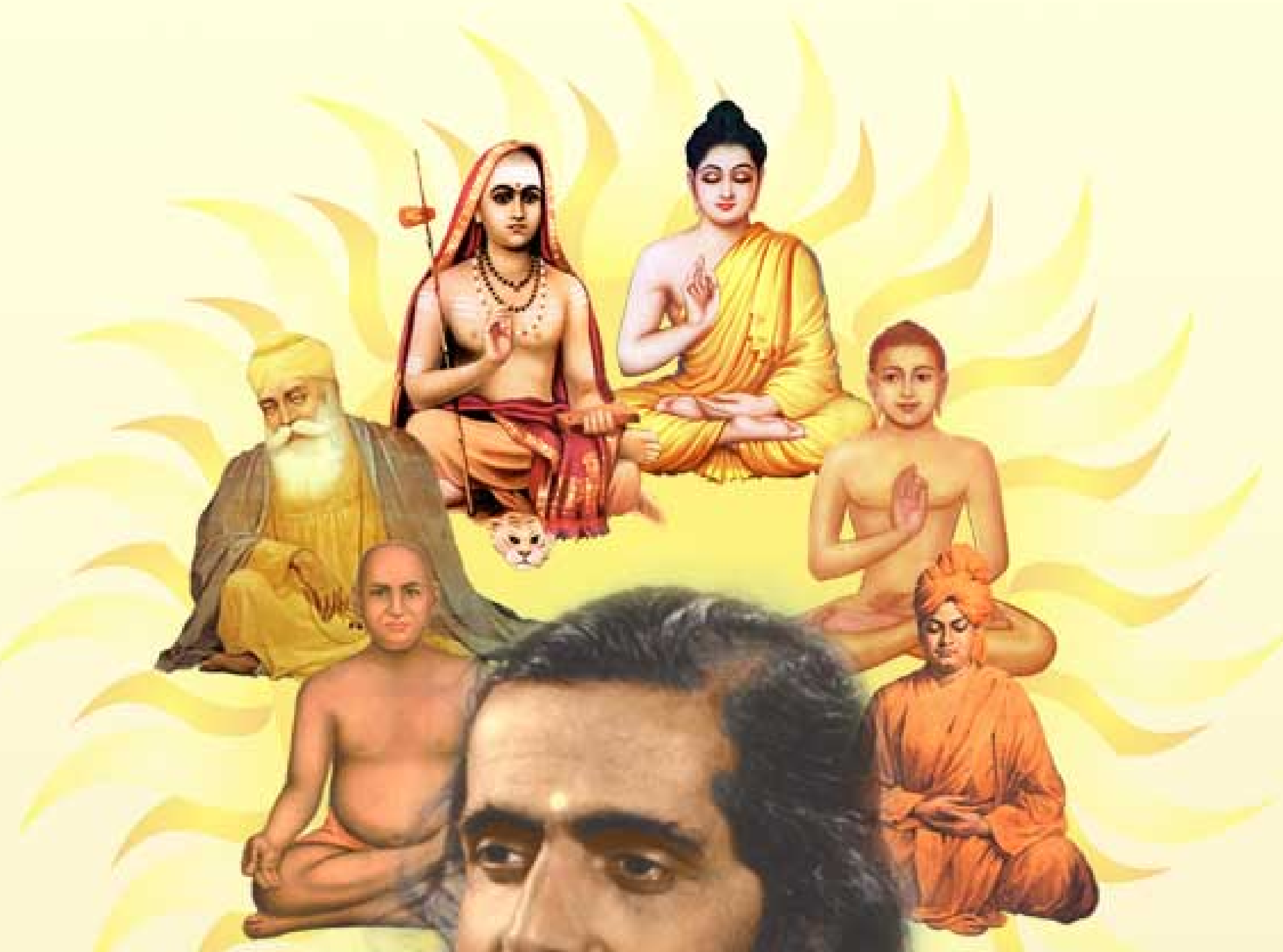


समन्वय के सुमेरु

श्री गुरुजी

संकलनकर्ता

श्री वीरेश्वर द्विवेदी

समन्वय के सुमेरु
श्री गुरुजी

संकलन कर्ता
श्री वीरेश्वर द्विवेदी

श्री गुरुजी के महान व्यक्तित्व में समर्थ स्वामी रामदास की भक्ति तथा शिवाजी महाराज की शक्ति का अपूर्व संगम था। उनमें राम-कृष्ण की तपस्या और विवेकानन्द के तेज का समन्वय था। आत्मविस्मृत हिन्दू समाज को स्वत्व का साक्षात्कार कराके श्री गुरुजी ने उसे संगठित शक्तिशाली तथा आत्मविश्वास से परिपूर्ण बनाने के राष्ट्रकार्य के लिए अपने शरीर का कण-कण और जीवन का क्षण-क्षण समर्पित कर दिया।

समन्वय के सुमेरु श्री गुरुजी

विभूतिमत्व की विराटता शब्दों में बाँधना छोटी डोंगी से सागर-संतरण जैसा दुस्साहसी प्रयास है। भारत माता के अनन्य प्रतिभापुत्र, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के द्वितीय सरसंघचालक ऋषिकल्प पूज्य श्री माधवराव सदाशिवराव गोलवलकर (गुरुजी) की ३३ वर्षीय अखण्ड राष्ट्र-साधना ऐसी ही है। १९४० से १९७३ तक राष्ट्र की सांस्कृतिक पतवार थामने वाले उनके हाथों ने भारत की भाग्य-तरी को कभी भ्रमित नहीं होने दिया और सदैव अचूक मार्गदर्शन करते रहे। राष्ट्र के शाश्वत अधिष्ठान पर आधारित समाधान हस्तामलकवत् प्रस्तुत होते रहे।

सुविख्यात हिन्दू-हितैषी पं. मदन मोहन मालवीय द्वारा स्थापित एशिया के विशालतम शिक्षाकेन्द्र बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में प्राणिशास्त्र तथा साथ में अंग्रेजी के भी प्राध्यापक श्री गोलवलकर का ज्ञान-गांभीर्य तो गजब का था ही, इससे भी अधिक प्रेरणा दायी व प्रभावी था उनका व्यक्तित्व और कर्तृत्व। भाषा, भावना व भूषा से प्राचीन भारतीय ऋषियों की याद दिलाने वाले उनके स्वरूप को देख उनके छात्रों ने श्रद्धा से अभिभूत होकर उन्हें 'गुरुजी' के नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया। संघ के सम्पर्क में आने से पूर्व प्रदत्त यह स्नेहिल उपनाम ही उनकी गरिमामय पहचान बन गया और वे अपने संगठन में ही नहीं, अपितु सर्वत्र-विश्व भर में- इसी नाम से विख्यात हुए।

रामकृष्ण मिशन में स्वामी विवेकानंद जी के गुरुभाई स्वामी अखण्डानंद जी से दीक्षा प्राप्त कर चुके श्री गुरुजी का पिण्ड मूलतः आध्यात्मिक ही था। किन्तु डॉ. केशव बलिराम हेडगेवार द्वारा प्रणीत विलक्षण हिन्दू संगठन **राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ** के सम्पर्क में आने तथा पश्चात् उसका शीर्ष दायित्व सरसंघचालक पद स्वीकारने के बाद श्री गुरुजी ने इस सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन में प्रवेश करके समाज-संगठन के ज्ञान में पारंगत बनकर आधुनिक भारत में अप्रतिम हिन्दू-जागरण द्वारा विश्व-विश्रुत हिन्दू संगठन खड़ा कर दिया। उन्होंने डॉ.हेडगेवार द्वारा वपित बीज को विशाल वटवृक्ष में बदलकर हिन्दू समाज को उसकी शीतल छाया में चहचहाने का दीर्घकालीन किंवा चिरकालीन सौभाग्य प्राप्त करा दिया।

ध्येय को ही देव कहकर अपने हृदय-मंदिर में बसाने वाले डॉ. हेडगेवार जी को अपना आराध्य मानकर श्री गुरुजी मनसा, वाचा, कर्मणा उन्हीं की ध्येय-धारा में रच-बस गये और अपनी कर्म-साधना से आजीवन यह सुवासित स्वर लहरी गुँजाते रहे-

हमें मिली प्रेरणा तुम्हारी, पावनतम स्मृति से।

लक्ष्य तुम्हारा प्राप्त किये बिन, चैन नहीं हम लेंगे।।

आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि, दार्शनिक दृष्टिक्षेप, वैज्ञानिक विश्लेषण तथा सांगठनिक स्नेहिलता से युक्त श्री गुरुजी का चिन्तन इतना मूलगामी तथा विषय-प्रतिपादन इतना हृदयग्राही, तथ्यपरक व तर्क संगत रहता था कि वह श्रोता के मन-मस्तिष्क को झकझोरे बिना नहीं रहता था।

अलौकिक विभूति

श्री गुरुजी किस उच्चकोटि की आध्यात्मिक विभूति थे यह जानने-हेतु विश्व-प्रसिद्ध आध्यात्मिक व्यक्तित्व स्वामी चंद्रशेखरेन्द्र सरस्वती (परमाचार्य, कांची कामकोटि पीठ) तथा उनके उत्तराधिकारी स्वामी जयेन्द्र सरस्वती के मध्य सम्पन्न वार्तालाप का उल्लेख अत्यंत समीचीन प्रतीत होता है। प्रसंग इस प्रकार है :-

एक बार श्री गुरुजी अपने प्रवासक्रम में उसी कांचीमठ-परिसर में ठहरे थे, जिसमें पूज्य परमाचार्य जी का निवासस्थान था। श्री गुरुजी प्रातःकाल आश्रम-परिसर में भ्रमण कर रहे थे। उस समय तक परमाचार्य जी द्वारा प्रातःकालीन पूजा-अर्चा प्रारम्भ हुई ही थी। श्री गुरुजी को टहलते देख परमाचार्य जी बाहर आए और उन्हें अपने पूजागृह में ले गए। श्री गुरुजी थोड़ी देर वहाँ रुककर अपने आवास पर चले गए। स्मरणीय है कि परमाचार्य जी के पूजागृह (गर्भगृह) में स्नान करके ही प्रवेश की अनुमति थी और भीगे वस्त्र में ही सभी कार्य करने होते थे। किन्तु जब परमाचार्य जी श्री गुरुजी को अपने पूजागृह में ले गये थे, तब श्री गुरुजी का स्नान नहीं हुआ था।

उक्त तथ्य ध्यान में रखकर वर्तमान कांची पीठ शंकराचार्य स्वामी जयेन्द्र सरस्वती चुप नहीं रह सके और उन्होंने परमाचार्य जी से पूछा - 'महाराज! आप के निकटतम शिष्य होने पर भी हमारे लिए तो आपके कठोर नियम हैं, किन्तु इस व्यक्ति के लिए कोई नियम नहीं! स्वामी जयेन्द्र सरस्वती का मंतव्य समझकर परमाचार्य जी ने कहा, ***'तुम्हारी बात सच है, किन्तु मैं क्या करूँ? जब मैं इन्हें (श्री गुरुजी को) देखता हूँ तब मुझे इनके नेत्रों में उन्हीं भगवान चन्द्रमौली (शिवजी) का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, जिनकी आराधना हम सब करते हैं। अतः इनके लिए मेरा कोई भी नियम नहीं है।'***

उपर्युक्त प्रकरण बताते हुए स्वामी जयेन्द्र सरस्वती जी ने कहा कि यदि श्री गुरुजी के लिए हमारे गुरु महाराज का कोई नियम नहीं, तो हम उनके लिए कोई नियम क्यों रखें? इसका प्रमाण तब मिला, जब शंकराचार्य का पद ग्रहण करने के बाद स्वामी जयेन्द्र सरस्वती अपनी देशव्यापी पदयात्रा के दौरान नागपुर पहुँचे। नागपुर आते ही उन्होंने श्री गुरुजी के बारे में पूछा। उन्हें बताया गया कि श्री गुरुजी अत्यधिक अस्वस्थ हैं, अतः आपके दर्शन-हेतु नहीं आ सकते। तब शंकराचार्य जी पाँच किलोमीटर से अधिक पैदल चलकर प्रातः संघ-कार्यालय पहुँचे। श्री गुरुजी ने शंकराचार्य जी के लिए फूलमाला की व्यवस्था कर रखी थी। किन्तु, शंकराचार्य जी के वहाँ पहुँचते ही उनके शिष्यों ने सूचना दी कि पूज्य शंकराचार्य जी को कोई माला नहीं पहनाएगा तथा उनके चरण-स्पर्श भी नहीं करेगा। यह सुनते ही शंकराचार्य जी ने तुरंत कहा, ''गुरुजी के लिए हमारा कोई नियम नहीं, वे जो करना चाहते हैं, कर सकते हैं।'' स्वाभाविक ही श्री गुरुजी ने शंकराचार्य जी को माला अर्पित की और प्रणाम भी किया। ऐसा अलौकिक था श्री गुरुजी का विभूतिमत्व!

फिर भी श्री गुरुजी इतने निरहंकारी एवं विनम्र थे कि उन्होंने शंकराचार्य पद के लिए अपना नाम प्रस्तावित होने पर भी उसके लिए स्वयं को अनुपयुक्त ठहराकर उससे मुक्ति पा ली। गोवर्धनपीठ (पुरी) के जगत्गुरु शंकराचार्य को ११.०४.१९६० को लिखे पत्र में वे कहते हैं - 'ब्रह्मलीन परम श्रद्धेय श्री भारती कृष्णतीर्थ की अन्तिम इच्छा के सम्बन्ध में प्रकाशित पत्रक में अपना भी नाम मैंने देखा।'***(वस्तुतः उनका नाम सर्वोपरि था-लेखक)***

'उस पीठ पर आरूढ़ होने की इच्छा न कभी मेरे मन में निर्माण हुई और न है, यह सविनय निवेदन करने के लिए मैंने यह पत्र लिखा है। जगद्‌गुरु की पीठ पर आरूढ़ होने के लिए अत्यावश्यक पाण्डित्य, वैराग्य, तपश्चर्या आदि गुणों का मुझमें अभाव है। ऐसे गुण-समुच्चय से सम्पन्न कोई महापुरुष ही अखिल विश्व में श्रद्धेय उस जगद्‌गुरु पीठ को सुशोभित करने योग्य होगा।'

नितांत प्रतिभासम्पन्न एवं सक्षम होने के बाद भी श्री गुरुजी अपनी सक्रियता का पूर्ण श्रेय महात्माओं के आशीर्वाद को ही देते थे। १७.०६.१९६४ को आध्यात्मिक उत्थान मण्डल, जबलपुर के अध्यक्ष स्वामी स्वानन्दजी को प्रेषित पत्र में उनका कथन है -- ***'महात्माओं के आशीर्वाद के फलस्वरूप ही मैं, जो अल्प-स्वल्प काम करता दिखाई देता हूँ, सो कर सकता हूँ। उनके अनुग्रह के अभाव में मेरा मूल्य शून्य से भी निम्नतर पर आ जाता है, इसको समझता हूँ। इतना ही मेरा यदि कुछ गुण हो, तो है।***

ऐसे उत्तुंग-उदार अध्यात्म के आराधक तथा उससे निःस्रत सम्पूर्ण मानवता का आलिंगन करने वाले हिन्दुत्व के उपासक ने इस राष्ट्र के हित में जो आवश्यक समझा गया, उसे असंदिग्ध स्पष्टता, दृढ़ता व निर्भीकता के साथ उच्च स्वर से घोषित किया।

श्री गुरुजी एवं विभिन्न मत पंथ

विचार नवनीत, में 'मातृभूमि के पुत्र :- एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति' शीर्षक के अन्तर्गत भारत राष्ट्र के श्रेष्ठ सर्वसमावेशक चिन्तन का वर्णन करते हुए श्री गुरुजी कहते हैं: 'हमारे लचीले धर्म के स्वरूप की जो प्रथम नैसर्गिक विशेषता बाहरी व्यक्ति की दृष्टि में आती है, वह है पंथ और उपपंथों की आश्चर्यजनक विविधता यथा - शैव, वैष्णव, शाक्त, वैदिक, बौद्ध, जैन, सिख, लिंगायत, आर्य समाज आदि। इन सभी उपासनाओं के महान आचार्यों एवं प्रवर्तकों ने उपासना के विविध रूपों की स्थापना, हमारे लोक-मस्तिष्क की विविध योग्यताओं की अनुकूलता का ध्यान रखकर ही की है। किन्तु अंतिम निष्कर्ष के रूप में सभी ने उस एक चरम सत्य को लक्ष्य के रूप में प्राप्त करने के लिए कहा है, जिसे ब्रह्म, आत्मा, विष्णु, शिव, ईश्वर अथवा महाशून्य तक के विविध नामों से पुकारा जाता है।'

श्री गुरुजी और स्पष्ट करते हैं :-

'व्यक्ति को उपासना - स्वातंत्र्य का यह अधिकार इसलिए प्राप्त था कि प्रत्येक के लिए अपनी विशिष्ट आध्यात्मिक प्रकृति के अनुरूप आध्यात्मिक भोजन चुनने का अधिकार हो, किन्तु उपासना-मार्ग की विविधताओं का अर्थ समाज का विभाजन नहीं था। एक ही धर्म के ये सभी अविभाज्य अंग समाज की धारणा करते थे। हमारे समाज के इन सभी अंगों में वही जीवन-दर्शन, वही लक्ष्य, वही बाह्य स्थूल पर आंतरिक आस्था का प्रभुत्व, वही पुनर्जन्म में विश्वास, वही ब्रह्मचर्य, सत्य आदि कतिपय गुणों की पूजा, वही पवित्र संस्कार व्याप्त थे। ......वे शुद्ध अद्वैत के संस्थापक श्री शंकराचार्य ही थे, जिन्होंने पंचायतन पूजा का निर्देश किया। ईश्वर के साक्षात्कार-हेतु विभिन्न पंथों के स्वरैक्य का यह कितना भव्य उदाहरण है! पंथ-विभेद के कारण हमारे देश में भूतकाल में कभी भी रक्तपात अथवा अपवित्र स्पर्धा नहीं हुई। इस आंतरिक एकत्व की गंभीर धारा का 'शिव महिम्न स्तोत्र' में अत्यंत सुंदर चित्रण हुआ है' :-

त्रयी सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति
प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

रुचानां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥7॥

(जिस प्रकार सभी जलों का गंतव्य समुद्र होता है, वैसे ही हे ब्रह्मा! सभी मनुष्यों के तुम एकमात्र लक्ष्य हो। मनुष्य अपनी रुचि कि अनुसार तुम्हारी पूजा के लिए भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसरण करते हैं-चाहे वह रास्ता सीधा हो या टेढ़ा - क्योंकि वेद, सांख्य, योग, शैव और वैष्णव आदि विभिन्न पंथों के विश्वासों में वही मार्ग श्रेष्ठ या पूर्ण है)।

टैक्सास विश्वविद्यालय, आस्टिन द्वारा १९६३ में श्री शंकरराव तत्ववादी (वर्तमान प्रभारी, विश्व विभाग, रा. स्व. संघ) को हिन्दू धर्म पर बोलने के लिए आमंत्रित किये जाने पर श्री गुरुजी हिन्दुत्व का उपर्युक्त स्वरूप ही प्रतिपादित करने-हेतु २९.०८.१९६३ को उन्हें लिखते हैं-

अपने धर्म का व्यापक स्वरूप, अद्वैत के आधार पर उसका सर्व-संग्राहकत्व, अन्य सर्व मतों का यथायोग्य आदर ...... आदि श्रेष्ठत्व का व्यवस्थित दिग्दर्शन कराने की ओर ध्यान देना हितकारी होगा।

इस सम्बन्ध में मुझे एक उत्तम उदाहरण स्मरण आता है। वर्तमान श्रृंगेरी मठ (जो श्रीमत् आद्य शंकराचार्य के मठों में प्रमुख माना जाता है) के आचार्य के गुरु श्रीमत् चन्द्रशेखर भारती स्वामी के पूर्ववर्ती पीठाधिपति के निकट एक अमरीकी सज्जन गये तथा स्वामी जी से उन्हें हिन्दू धर्म में दीक्षित करने की प्रार्थना की। श्रीमत् आचार्य ने उनसे पूछा कि ईसाई मत में क्या कमी है, उस मत की उपासना क्यों नहीं करते? अमरीकी सज्जन ने कहा कि उस उपासना से मनःशांति नहीं मिली। तब स्वामी जी ने उनसे पूछा, क्या तुमने प्रामाणिकता से मनःपूर्वक, पूर्ण श्रद्धा से उपासना की है? उसने कुछ समय सोचकर उत्तर दिया, 'नहीं।'

तब स्वामी जी ने उसे श्रद्धायुक्त अंतःकरण से यीशु पर विश्वास रखकर प्रामाणिकता से उस मतानुसार प्रभुभक्ति करने का सुझाव देकर कहा कि यदि पर्याप्त दिनों तक इस प्रकार करते रहने पर भी तुम्हारा मन अशान्त तथा असंतुष्ट ही रहा, तो सिद्ध होगा कि तुम्हारी पूर्वजन्म प्राप्त प्रकृति के लिए यह उपासना-पद्धति उपयुक्त नहीं है। वैसी स्थिति में मैं आश्वासन देता हूँ कि तुम्हारे पुनः आने पर मार्ग सुझाया जाएगा।

इस उदाहरण का अर्थ स्पष्ट है कि जन्म से प्राप्त अपनी मूल निष्ठा को दृढ़ करना ही अभीष्ट है . .....अपने धर्म की यह व्यापक संग्राहक दृष्टि है। स्वामी विवेकानंद जी ने भी यही विचार अपनी ओजस्वी वाणी से उद्घोषित किये हैं।...

एक अन्य प्रसंग में एक सूफी संत द्वारा सभी पंथों में एकता के उपाय के रूप में सबको मुसलमान बन जाने का सुझाव देने पर श्री गुरुजी ने कहा- इस सूफी व्यक्ति को यह पता नहीं है कि इस दुनिया में एक सर्वसमावेशक तत्वज्ञान है, उसे हिन्दू कहो या न कहो, वह जागतिक तत्वज्ञान है, मानवता का तत्वज्ञान है। कोई राम कहेगा, कोई कृष्ण, कोई अल्लाह। भगवान् अंततः एक ही है, यह कहने वाला केवल हिन्दू धर्म ही है। अनेक पंथ-भेद के लोग होने पर भी, ये सभी मार्ग एक ही परमेश्वर की ओर ले जाने वाले हैं, यह उदारता की भावना हिन्दुत्व के बिना संभव नहीं है।

विचार नवनीत में 'हमारा जागतिक लक्ष्य' शीर्षक के अंतर्गत श्री गुरुजी बताते हैंः- 'इतिहास का यह कथन है कि केवल इसी देश में अति प्राचीन काल से विचारकों और दार्शनिकों, ऋषियों और मनीषियों की पीढ़ी के पश्चात् पीढ़ी मानव-प्रकृति के रहस्यों का उद्घाटन करने के लिए उठती रही। उन्होंने आत्मजगत् में गहराई तक गोता लगाया तथा उस महान एकरूपता के सिद्धांत की अनुभूति के शास्त्र को

आविष्कृत किया, उसे परिपूर्ण बनाया। एक सम्पूर्ण राष्ट्र की तपस्या और त्याग तथा सैकड़ों शताब्दियों का अनुभव, संसार की आध्यात्मिक तृषा को शांत करने के लिए इस ज्ञान के अक्षय स्रोत के रूप में यहाँ वर्तमान है।

दूसरी ओर, भारत के बाहर संसार ने आत्मा के इस शास्त्र का अध्ययन नहीं किया। आज तक अपनी इंद्रियों से बाह्य संसार के अध्ययन के अभ्यस्त हो, वे बहिर्मुखी बने हुए हैं। इंद्रियाँ बहिर्मुखी होने के कारण आंतरिक प्रकृति के दृश्य की ओर जाने में असमर्थ हैं। इसीलिए पाश्चात्य जगत् के लोग आत्मजगत् के ज्ञान एवं अनुभव से शून्य बने रहे, चाहे स्थूल जगत् के रहस्यों का कितना ही उद्घाटन क्यों न कर लिया हो। ... हमारे पूर्वज जिन्होंने इंद्रियों से परे विश्व में प्रवेश किया, अंदर देख सके और उस भासमान आंतरिक शक्ति की झाँकी प्राप्त कर सके।'

आचार्य विनोबा भावे ने श्री गुरुजी को श्रद्धांजलि देते हुए कहा था – 'वे हर चीज का राष्ट्रीय दृष्टिकोण से विचार करते थे। उनका आध्यात्म में अटूट विश्वास था और सभी धर्मों के लिए उनके हृदय में आदर का भाव था। उनमें संकीर्णता लेशमात्र भी नहीं थी, वे हमेशा उच्च राष्ट्रीय विचारों से कार्य करते थे। श्री गोलवलकर को आध्यात्म से गहरा प्रेम था। वे इस्लाम, मसीही आदि अन्य धर्मो को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे और यह अपेक्षा करते थे कि भारत में कोई अलग न रह जाए।'

मानवता पर प्रेम रखो

२४ जनवरी, १९६६ को प्रयाग में विश्व हिन्दू परिषद के प्रथम अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में श्री गुरुजी ने स्पष्ट किया था – 'कभी-कभी लोग कहते हैं जो भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय चलते हैं, उनका विनाश करने के लिए आप चले हैं क्या? स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में हम कह सकते हैं कि ऐसा हमारा कोई संकल्प नहीं है। हम किसी से यह नहीं कहते कि तुम ईसाई मत बनो या इस्लाम के अनुसार कुरान शरीफ का अध्ययन करना या पाँच बार नमाज पढ़ना ठीक नहीं। हम इतना ही कहते हैं कि जो कुछ करना है ईमानदारी से करो, चारित्र्यसम्पन्न बनकर और मानवता पर प्रेम रख कर करो। सदाचरण आदि सर्वश्रेष्ठ सद्गुण संसार के यच्चयावत् मानव जाति के लिए हैं। उनका परिपालन करते हुए चलो। उनके नाम पर अपने स्वार्थ को पूर्ण मत करो, या व्यभिचार मत करो और विनाश मत करो, यही अपना आग्रह है।'

एक भेंटवार्ता (खण्ड ६, पृष्ठ१२२) के दौरान श्री गुरुजी साफगोई से कहते हैं, 'हिन्दू लोग चर्च और मस्जिद को पूजा का स्थान मानते हैं, इसलिए वे उनका सम्मान करते हैं। मुस्लिम और ईसाइयों की सोच वैसी नहीं है। वे मूर्तिपूजा को पाप समझते हैं। मुसलमान तो मूर्तिभंजन करने में गौरव का अनुभव करते हैं। हमारे देश में अगणित भव्य मूर्तियाँ और उजड़े हुए मंदिर उनकी इस मनोवृत्ति के प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। हिन्दुओं की पूजा पद्धति का उन्हें ज्ञान न होना कोई महत्त्व की बात नहीं है। यदि वे मन्दिरों में आते हैं और अपनी भाषा में अपनी पद्धति से घुटने टेककर प्रार्थना करते हैं, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। किन्तु, शपथबद्ध दुश्मनी करने की मनोवृत्ति से मन्दिरों में प्रवेश करना, उन्हें अपमानित और भ्रष्ट करने के समान ही है।'

न्यायप्रियता से विसंगति

विचार नवनीत में 'दैवीय धरोहर–जागतिक लक्ष्य' विषय के अन्तर्गत श्री गुरुजी कहते हैं–प्राचीन वैदिक काल से लेकर आज तक हमारी यही उदारता व सर्वसमावेशी परम्परा रही है। हमारे सभी आध्यात्मिक आचार्यों ने धर्म के इसी सर्वव्यापी अद्वितीय स्वरूप को ग्रहण किया है। रामकृष्ण परमहंस ने कहा है–जितने दृष्टिकोण, उतने मार्ग (जेतो मतो, तेतो पथो)। व्यक्तियों की विविध वृत्तियों एवं रुचि के अनुसार अनेक पंथ और मत हो सकते हैं।

इनमें से अनेक पंथों एवं दर्शनों के निर्माण से एक अन्य लाभदायक उद्देश्य की भी सिद्धि हुई है। वे हमारे समाज की अखण्डता को बनाये रखने के लिए तथा उसकी रक्षा के लिए भी सहायक सिद्ध हुए हैं। उदाहरण के लिए, सिख पंथ का उदय पंजाब में इस्लाम के प्रसार को रोकने के लिए हुआ। आगे चलकर समय की आवश्यकता को समझते हुए दशम् गुरु गोविंद सिंह ने अपने शिष्यों को सशस्त्र किया तथा उन्हें राष्ट्रीय योद्धाओं के एक सैन्यबल में परिवर्तित कर दिया। जब ईसाई धर्म–प्रचारक हमारे पश्चिमी समद्र तट पर लोगों को अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित करने के लिए अपने दयामय ईश्वर के नाम पर लोगों की अनुनय कर रहे थे, उस समय इस विदेशी विष को विफल करने के लिए हमारे धर्म की भक्ति के एक स्वरूप को लेकर श्री मध्वाचार्य का उदय हुआ। स्वामी रामानुजाचार्य एवं संत बसवेश्वर के प्रयत्न भी समाज में प्रवेश कर रहे ऊँच–नीच के भेद को मिटाकर ईश्वर–भक्ति के सामान्य बंध में सभी लोगों को बाँधने के लक्ष्य से प्रेरित थे।

संकीर्णता–अंधकार में ओझल होता सत्य–सूर्य

किन्तु कालक्रम में आस्थाओं–निष्ठाओं में स्खलन के फलस्वरूप चित्र बदला और स्थिति ऐसी हो गयी, जैसी श्री गुरुजी द्वारा विश्व हिन्दू परिषद, असम के द्वितीय सम्मेलन (२७–२६ मार्च, १६७० जोरहाट) में वर्णित की गई – 'इस प्रकार की विभेदकारी प्रवृत्तियाँ, छोटे–छोटे परिमाण में अपने इस विशाल हिन्दू समाज के विभिन्न पंथ–उपपंथों में आजकल दिखाई पड़ रही है। इस सत्य को ओझल करने का प्रयत्न किया जा रहा है कि अपने इस विशाल देश में जैन, सिख, बौद्ध, शैव, शाक्त, लिंगायत, वैष्णव इत्यादि विभिन्न जितने पंथ और मार्ग हैं, वे इसी विशाल हिन्दू समाज के अंग हैं।'

इस व्यथा को और विस्तार देते हुए श्री गुरुजी ने **22 अक्टूबर, 1972 को विश्व हिन्दू परिषद, गुजरात के सिद्धपुर** सम्मेलन में कहा– अपने देश के धार्मिक क्षेत्र में अनेक पंथ और सम्प्रदाय हैं और दुर्भाग्य यह है कि ऐसी कुछ विचित्र प्रथाएँ प्रचलित हैं कि इनमें आपसी सहयोग तो क्या, साधारण मिलन भी कठिन हो गया है। ...... इन सब में सामंजस्य निर्माण करने के उद्देश्य से विश्व हिन्दू परिषद का एक सम्मेलन आयोजित हुआ। उसमें पधारने के लिए निमंत्रण देने अपने कार्यकर्ता संप्रदायों के प्रमुखों के पास पहुँचे। एक स्थान पर जब ऐसा निमंत्रण दिया, तो उन्होंने उसे स्वीकार तो किया, परन्तु बोले, 'वहाँ बैठने का प्रबंध क्या है?' जब कार्यकर्ताओं ने उन्हें बैठने की व्यवस्था की जानकारी दी, तो उन्होंने कहा 'तब हम कैसे आ सकेंगे? यह इस मठ का? वह उस सम्प्रदाय का, वे सब क्या हमारे साथ बैठेंगे? वहाँ कैसी व्यवस्था कर रहे हैं? आखिर हमारी कुछ मर्यादाएँ हैं और उनमें श्रेष्ठत्व–कनिष्ठत्व है। इसलिए उनके अनुसार करो, तो हम आएंगे।'

यह बात मेरे ध्यान में लाई गई। मैंने विचार किया कि यह तो बड़ी विचित्र बात है कि ऐसे व्यक्ति, जिन्होंने सर्वसंगपरित्याग करके भगवा वस्त्र धारण कर लिया है, वे भी मान-अपमान के क्षुद्र विचार से पीछा नहीं छुड़ा पाए। इसलिए उनसे जब मिलने का अवसर आया, तब मैंने उन्हें प्रणाम कर कहा – 'आप यह गेरुआ वस्त्र उतार दें, तो अपना कुर्ता देता हूँ, उसे पहन लीजिए, फिर ऐसी बातें करें। इस वस्त्र में तो आपकी यह बात सुनने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ। मैंने तो कभी चतुर्थाश्रम को स्वीकार नहीं किया है। परन्तु मेरा जीवन तो साधुओं में बीता है। ऐसे महापुरुषों के सानिध्य में बीता है, जिनके बारे में 'गुरुर्साक्षात् परब्रह्म' कह सकते हैं। उसके आधार पर मैं कहता हूँ कि आप इस वस्त्र को उतार डालें।'

ये बहुत श्रेष्ठ पुरुष थे। वे नाराज नहीं हुए। एक क्षण मेरी ओर देखा और कहा – 'भाई! तेरा कहना ठीक है। हम लोग मठ और महन्तों की मर्यादाएँ सँभालने में ही लगे रहे। हमने अपना संन्यास-धर्म ही छोड़ दिया।' बाद में उस सम्मेलन में उन्होंने बड़े उत्साह से भाग लिया।

यहाँ सब संप्रदायों के प्रमुखों ने एक मंच पर बैठकर प्रेम से वार्तालाप किया। किसी के मन में किसी के संप्रदाय के बारे में आक्षेप करने का विचार स्वप्न में भी नहीं आया। इस प्रकार एक राष्ट्रीयत्व का साक्षात्कार हम लोगों ने यहाँ पर किया।

इससे भी अधिक दुःखद स्थिति का वर्णन श्री गुरुजी द्वारा विश्व हिन्दू परिषद पश्चिम उत्तर प्रदेश के ***हरिद्वार अधिवेशन*** में किया गया :- असम में शंकरदेव द्वारा प्रस्थापित कुछ मठ हैं, जिनको वहाँ पर सत्र बोलते हैं और प्रत्येक सत्र के प्रमुख को सत्राधिकारी कहा जाता है। ये मठ ब्रह्मपुत्र के अंदर एक बड़े द्वीप में है। परन्तु आश्चर्य की बात यह ***है कि एक ही द्वीप में रहने वाले ये सब मठाधीश गत कुछ दो-तीन शताब्दियों में एक-दूसरे से मिले नहीं।*** द्वीप बड़ा है, यह बात सच है। परन्तु कुछ ऐसा बहुत दूर तो जाना नहीं था, कुछ ही मीलों के अंदर है। अपने एक महापुरुष के अनुयायी के रूप में सब रहते हैं। पर किसने किसको मिलने के लिए जाना? पहले अपने घर से कौन जाए? फिर वह बड़ा होगा कि मैं बड़ा होऊँगा? पता नहीं कौन-कौन से विचार मन में आए होंगे, भगवान जाने, मैं तो कह नहीं सकता, लेकिन वे गये नहीं।

ईश्वर की कुछ ऐसी कृपा हुई कि विश्व हिन्दू परिषद के नाते जो काम हुआ, तो अपने प्रयाग के सम्मेलन (१९६६) में इनमें से एक बहुत प्रमुख सत्र के सत्राधिकारी आए। फिर उनकी सहायता से और उनकी प्रेरणा से सभी सत्राधिकारी, लगभग दो-ढाई सौ, डेढ़-दो साल के पहले असम में आयोजित एक कार्यक्रम में आए। उस समय सबसे बातचीत हुई। उन्हें बताया गया कि वे सब गिरि-क्षेत्रों में रहने वाले आपके अनुयायी हैं। जब उनसे यह पुछा गया कि उनके पास आप में से कोई जाता है क्या? 'कोई नहीं जाता'! क्यों नहीं जाता? उनका मार्गदर्शन कौन करेगा? समय-समय पर उनको भगवान के नाम से भजन-पूजन करना कौन सिखाएगा? उनके अन्तःकरण की, अपने समाज की, धर्म की श्रद्धा को कौन पक्का रखेगा? अपना ही काम नहीं है क्या? तो अपने अगर शिष्य हैं, वंश परम्परा से चलते आ रहे हैं, अपने सत्र के तो उनको मार्गदर्शन करने का अपना जो स्वाभाविक अधिकार है, उसको विस्मृत करके हम चलें-यह ठीक होगा क्या? तो सबने कहा कि यह बात हमारी ओर से ठीक नहीं हुई और हम इस चीज को ठीक करेंगे। इस प्रकार उन्होंने उस कार्य को भी थोड़ी-बहुत मात्रा में शुरू किया है।

वनवासी बन्धु स्वयं को 'हिन्दू' लिखवाएँ

विश्व हिन्दू परिषद् असम के द्वितीय सम्मेलन (**मार्च 1970, जोरहाट**) में बोलते हुए श्री गुरुजी ने यह आग्रह भी किया कि वनवासी बन्धु अगली जनगणना में स्वयं को हिन्दू लिखवाएँ। 'भिन्न-भिन्न पंथ या पहाड़ी जातियों का नाम लेकर जनगणना में उपस्थित न हों। कोई खासी हो, कोई उफना हो, मिकिर हो, नाग हो, कोई भी हो, सब मिलकर अपने को 'हिन्दू' इस नाम से ही लिखाएँ। हम सब हिन्दू हैं। ऊपर से दिखाई देने वाले वेश, भाषा, खानपान आदि के जितने भेद हैं, वे सब हमारी विविधताओं के अंग हैं। विविधता में एकता का सूत्र 'हिन्दू' है। इस सूत्र को ही हमें मजबूत करना है। सबको यही बताना है कि जैन हुआ तो भी हिन्दू है, बौद्ध हुआ तो भी हिन्दू है, शैव भी हिन्दू है। एक समाज, एक परम्परा, एक संस्कृति, एक प्रतिष्ठा इस नाते से हम सारे हिन्दू हैं। ऐसी बड़ी सतर्कता रखकर हमें स्वतः को एक संगठित रूप में खड़ा करने की आवश्यकता है।'

क्या हमने उन्हें बताया कि गाय हमारी माता है?

(विहिप सम्मेलन, महाराष्ट्र, पंढरपुर, ५ दिसम्बर १६७०)

असम में जो गिरिवासी रहते हैं, वे गो-मांस खाते हैं। हिन्दू को यदि यह बताया गया कि वे गो-मांस खाते हैं, तो उसके शरीर पर रोंगटे खड़े हो जाएँगे। कोई कहेगा कि वे कितना भयंकर पाप करते हैं। मुझे एक साधु पुरुष ने पूछा कि वे तो गो-मांस खाते हैं, उनको हिन्दू कैसे कहेंगे? मैंने कहा- वे लोग गो-मांस क्यों खाते हैं? क्या वे शौक से खाते हैं? क्या बड़े प्रेम से खाते हैं? नहीं। उनको दूसरा कुछ खाने के लिए मिलता नहीं है। हम लोगों ने उनकी भोजन-व्यवस्था के लिए क्या किया? कोई शिक्षा दी है क्या? कोई उद्योग दिए हैं क्या? सम्मान से वे अपना जीवन-यापन करते हुए समाज का एक सुव्यवस्थित घटक बनें; ऐसी हमने उनकी शिक्षा-दीक्षा की कुछ व्यवस्था की है क्या? आज ही क्यों, पिछली कुछ शताब्दियों से हमने इस कर्तव्य का पालन किया है क्या? मैं कहूँगा कि नहीं किया है।

अतः वे लोग जो गो-मांस खाते हैं वह उनका पाप नहीं, हमारा पाप है। उस पाप के भागीदार हम हैं। अनुकूलता होते हुए भी हम वहाँ उनको शिक्षा-दीक्षा देने के लिए गए नहीं। उनको समाज के अच्छे घटक बनाने के लिए किसी ने प्रयत्न किया नहीं; तो वह पाप हम सबको लगता है, उनको नहीं। क्या किसी ने उनको बताया है कि यह गौ अपने लिए बड़ी पुण्यदायी है, वंदनीय है, क्या किसी ने उनको बताया कि वे हिन्दू हैं? क्या उनके अन्तःकरण में यह प्रेरणा जगाई है कि भगवान् श्रीकृष्ण के रूप में उन्होंने जन्म लिया है? यह किसी ने उनको नहीं सिखाया। कोई उनके पास इस बात की शिक्षा देने नहीं पहुँचा कि गोरक्षा के लिए हम हिन्दुओं ने कितने त्याग किए हैं। इतना हम सबने उनके लिए नहीं किया।

सिख पंथ के विषय में

एक अनौपचारिक बातचीत (गुरुजी समग्र खण्ड ६, पृष्ठ २५) में वे दृढ़ता से घोषित करते हैं-हम हिन्दुओं को सिख, बौद्ध, जैन आदि पंथों में करके नहीं देखते हैं। हमारा मानना है कि देश में निर्माण

हुए ईश्वर-प्राप्ति के बौद्ध, जैन, सिख, शैव, वैष्णव, वीरशैव आदि सभी पंथ व्यापक हिन्दू शब्द में अंतर्भूत हैं।

'न्यूयार्क टाइम्स' के संवाददाता श्री लूकस के साथ 13 मई 1966 को हैदराबाद में सम्पन्न वार्ता में श्री गुरुजी रेखांकित करते हैं-हमारी दृष्टि में सिख हिन्दू ही हैं। कई वर्ष पहले तक सिखों और असिख हिन्दुओं में विवाह-सम्बन्ध भी होते थे। तीसरी शक्ति की उपस्थित से ही इस प्रकार के झगड़े खड़े हुए हैं।

वास्तव में आज भी इनका सम्प्रदाय-जीवन उन्हीं विचारों एवं अनुभूतियों से परिव्याप्त है, जिनसे कि शेष हिन्दुओं का। अभी वर्तमान काल में ही शताब्दी पूर्व प्रत्येक हिन्दू परिवार से एक पुत्र 'सिख' नाम धारण करने वाला हुआ करता था। हमारे परस्पर रक्त-सम्बन्ध आज तक चले आ रहे हैं। यह तो केवल राजनैतिक आकाँक्षाओं का विष है, जिसने इस विघटन के दैत्य को खड़ा किया है अन्यथा वह तो हिन्दुत्व की निष्ठा-सम्पन्न एवं पराक्रमी भुजा थी।

गुरुपूर्णिमा पर एक **बौद्धिक (खण्ड 5, पृष्ठ 303)** में बोध कराते हैं-क्रूर एवं आततायी आक्रमण से संरक्षण के लिए क्षात्रवृत्ति का अंगीकार करने वाले शस्त्रधारी और पराक्रमी, एक से बढ़कर एक, श्रद्धास्पद गुरु हिन्दू समाज में हुए। उनमें दसवें गुरु गोविन्द सिंह जी थे। उन्होंने गुरु-परंपरा पर विराम लगाया; क्योंकि धर्मभक्त देशभक्त तथा समर्पण-हेतु सिद्ध लोग हर बार गुरुपद पर आएंगे ही, यह कहना कठिन है। इसी विचार से उन्होंने आदेश दिया कि इसके बाद श्री गुरु ग्रंथ साहब को गुरु माना जाए। उसमें दिये गये ज्ञान का श्रेष्ठ संकलन उसकी स्फूर्तिप्रदता, तेजस्विता क्षात्रधर्म, ब्रह्म तेज इन सभी का अक्षय आदर्श दृष्टि के सम्मुख हो। किसी शाश्वत मार्गदर्शन के लिए किसी व्यक्ति पर अवलम्बित न रहे, यह हिन्दू परम्परा का ही विचार है। संघ में भी यही विचार किया गया।

'हिन्दू' नाम जो हमारे सर्वव्यापक धर्म का बोध कराता था, आज अप्रतिष्ठा को प्राप्त हुआ है। लोग अपने को हिन्दू कहने में लज्जा का अनुभव करने लगे हैं। इस प्रकार व स्वर्णिम सूत्र, जिसमें ये सभी विविध आभायुक्त आध्यात्मिक मोती पिरोए हुए थे, छिन्न हो गया है तथा विविध पंथ तथा मत केवल अपने ही नाम पर गर्व करने लगे हैं और अपने को हिन्दू कहलाने से इंकार करने लगे हैं। (**विचार नवनीत**, हमारा जागतिक लक्ष्य)

इससे अधिक दुर्भाग्य की बात और भला क्या होगी कि वर्तमान सिख-नेता अपने पवित्र पंथ को देश और धर्म के कट्टर विनाशकों के समक्ष ला खड़ा करने-हेतु कमर कसते हैं। इतना ही नहीं, तो उन्हीं शत्रुओं से मदद पाने के इच्छुक हैं, जिनके आक्रमणों से मुकाबला कर हमारी रक्षा करने के लिए उनका जन्म हुआ था।

हमारे संविधान में स्पष्ट रूप से अंकित है कि हिन्दू के अंतर्गत ही सिख, जैन और बौद्ध सम्प्रदाय है।

• सर्व-समावेशक 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग हो

तत्कालीन केन्द्रीय गृहमंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री को २१.०८.६१ को सुझाव देते हुए लिखते हैं ... सिख और हिन्दू ऐसे भेदभाव निर्माण करने वाले शब्द-प्रयोगों का सर्वथा त्यागकर, 'हिन्दू' शब्द में शैव, वैष्णव, जैन, बौद्ध, सिख, आर्य समाज आदि सब का अन्तर्भाव है, इस तथ्य के अनुरूप ही

बोलने-लिखने में सत्यानुकूल सतर्कता बरतने की दक्षता अपने सब कार्य करने वाले महानुभाव व्यवहृत करें, ऐसा सफल प्रयत्न करें, यह मेरी प्रार्थना है।

खण्ड 8 में अंकित पत्ररूप श्रद्धा भी दर्शनीय है :-

- ***श्री गुरु गोविन्दसिंह जी - अखण्ड प्रेरणास्रोत***

सम्पादक, दैनिक 'प्रभात', अमृतसर (२१ जनवरी, १६४२)

... आपके वृत्तपत्र के माध्यम से महान गुरु श्री गोविन्दसिंह के चरणों में विनम्र अभिवादन करता हूँ। श्री गुरु गोविन्दसिंह में संत, संगठक, देशभक्त तथा लोकनेता के गुण समाए हुए थे। उनका आदर्श जीवन, सुप्त हिन्दू समाज के जागरण का अखण्ड प्रेरणास्रोत है। हमारे निद्रालीन, खर्राटे भरने वाले, स्वप्न देखने वाले एवं नींद में ही चलने वाले बंधुओं में सुस्पष्ट पुनर्जागरण हेतु श्री गुरुजी की पवित्र स्मृति को आप जाग्रत कर रहें हैं, इसलिए आपका अभिनन्दन करता हूँ। आपके वृत्तपत्र के मार्गदर्शक श्री मास्टर तारासिंह जी को सादर प्रणाम।

- ***'जीवन'-अमृतपान करायें***

श्री महीप सिंह जी, कानपुर (१४ फरवरी, १६५१)

'दशमेश' का जयंती अंक पढ़कर पूरा किया। अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। आज की पथभ्रष्ट हिन्दू जाति को इस महान ब्राह्मक्षात्र-परिपूर्ण श्री गुरु को नमन करने की आवश्यकता है। यह जीवन ही वह जीवन था, जो कि आज भी समाज को मृततुल्य अवस्था से उठाकर जीवन दे रहा है। हम लोग सर्व प्रयत्न करें कि इस 'जीवन' के अमृत का समाज को पान करवाकर उसे समर्थ, सम्पन्न, राष्ट्रजीवन (अमर राष्ट्र जीवन) निर्माण करने में सफल करें।

- ***हिन्दू-सिख अलगाव के भाव हटाएँ***

श्री गुरुदेवसिंह नामधारी, लुधियाना (३ मार्च, १६६१)

श्री सद्‌गुरु जगजीतसिंह महाराज की प्रेरणा तथा मार्गदर्शन होने से सब बंधु सर्व कार्यक्रम उत्साह से करेंगे तथा अपने प्रभाव से सात्विकता, धर्मश्रद्धा का वायुमण्डल फैलाकर क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थ से जो लोग हिन्दू-सिख अलगाव उत्पन्न कर रहे हैं, उस विपरीत भाव को हटा देंगे-इसका मुझे पूर्ण विश्वास है।

श्री सद्‌गुरु महाराज की हम लोगों पर नित्य कृपा रही है और अभी के श्री सद्‌गुरु महाराज भी वही कृपा कर रहे हैं। मैं भैणी साहब में अवश्य आता, किन्तु अब समय नहीं है। इस कारण श्री महाराज जी से क्षमा-याचना करता हूँ।

- ***हिन्दू-सिख भेद राष्ट्रविघातक***

श्री वी.डी.भाटिया (२१ अगस्त. १६६१)-(मूल अंग्रेजी)

हिन्दू समाज का संरक्षण करने के लिए सिख पंथ द्वारा किया गया महान् त्याग प्रत्येक हिन्दू कृतज्ञता से स्मरण करता है। जीवित शरीर का एक अंग दूसरे अंग के लिए अवश्य त्याग करेगा। हाँ, यदि वह अंग सजीव शरीर का हिस्सा है, न कि उससे जुड़ा हुआ निर्जीव अवशेष। ...वर्तमान गतिरोध धर्म के कारण नहीं, बल्कि राजनीति की सत्ता-स्पर्धा के कारण है। यह बात देश के सभी प्रदेशों पर लागू होती है। मास्टर तारासिंह की माँगें हों या ई.वी. रामास्वामी नायकर की, दोनों अपने सम्प्रदायों में श्रद्धेय हैं।

लोग उन्हें देवदूत तथा पथ-संरक्षक के रूप में देखते हैं। दुरुपयोग होने वाले इस शब्द-प्रयोग का जो भी अर्थ हो, उसका शुद्ध राजनैतिक संदर्भ है। मैं राजनीति से अलिप्त हूँ, इसलिए जगज्जननी माँ से केवल प्रार्थना करने के अलावा कुछ भी नहीं कर सकता .....

- **श्री गुरु गोविंद सिंह समस्त हिन्दुओं के गुरु**

डॉ. सूरज प्रकाश, दिल्ली (२० दिसम्बर, १९७१)

... आपके द्वारा आयोजित कार्यक्रम बहुत औचित्यपूर्ण है। श्री गुरु गोविंदसिंह सम्पूर्ण हिन्दू समाज के गुरु, मार्गदर्शक हैं; परम वंदनीय हैं। सद्य स्थिति में उनकी वीरगाथा का, उनकी पवित्रता का, त्याग का, धर्मनिष्ठा का श्रद्धा से स्मरण कर अनुसरण करना अतीव आवश्यक है। आपने पूरे समाज को यह स्मरण करने का अवसर देने की योजना बनाई है, जिसके लिए आप सबका अभिनन्दन ...

बौद्ध मत सनातन-परम्परा का अंग

जो अपना महान चिरंजीवी सिद्धान्तमय और आचारमय धर्म है; वह सनातन धर्म है। अपनी इस महान परम्परा में उत्पन्न हुए बौद्ध, जैन आदि सभी पंथों का अन्तर्भाव होता है। जयदेव कवि ने कहा कि हिंसात्मक यज्ञ का भगवान बुद्ध ने निषेध किया है। (विहिप प्रथम सम्मेलन, प्रयाग, जनवरी १९६६)

महात्मा गौतम बुद्ध को कौन नहीं जानता? सांसारिक दुःखों से मुक्ति प्राप्त करने की खोज में कष्ट सहन करते हुए प्राणिमात्र की पीड़ा दूर करने हेतु उन्होंने 'सुधार-आंदोलन' किया। वह जगत् भर में फैला। परंतु अंत में वह एक स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में परिणित होकर यहाँ की परम्परागत ज्ञानधारा से नाता तोड़ बैठा। यहाँ के प्राचीनतम वैदिक ज्ञान को उसने श्रद्धा से नहीं देखा। परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि इस धारा को छोड़कर उसकी क्या दशा हुई। जहाँ पर प्राचीन संस्कृति की धारा प्रवाहित थी, वहाँ पर तो वह, सरिता का प्रवाह अधिक समय तक रोक सकने में असमर्थ होकर नष्ट हो गया। परंतु, जहाँ संस्कृति की धारा नहीं थी, भारत से दूर उन प्रदेशों में तो बौद्ध धर्म चल सका। परन्तु अपने ही जन्म-स्थान भारतवर्ष में नष्ट हो गया। इसी प्रकार दूसरों का आदर्श लेकर अपनी संस्कृति की जीवनधारा से पृथक होकर चलने वाले जो प्रयत्न होंगे, वे अधिक देर तक ठहर नहीं सकेंगे। बाह्यादर्श प्रकृति (Extra-Territorial Idealism) के आधार पर नवीन निर्माण करने-हेतु हम चाहे जितना ही ढोल बजायें, वह फटे बिना नहीं रहेगा। वास्तविकता प्रकट हो ही जाएगी। हमारी संस्कृति की अखण्ड धारा भूले-भटके को अवश्य ही राह पर लायेगी। (दिल्ली, जून'४७)

बुद्ध के उत्तराधिकारी

लोगों को यह अनुभव हुआ कि इसके कारण मनुष्य में सद्गुणों का विकास होता है। इस आकर्षण के कारण ही उन्होंने बौद्ध मत का मंडन करने वाले विद्वानों को आदर से देखा। अपने देश से गौतम बुद्ध का एक शिष्य तिब्बत, चीन, जापान आदि देशों में गया। उसे भगवान् मानकर उसकी मूर्ति स्थापित कर पूजा की गई। वह बौद्ध मत का बहुत बड़ा पण्डित था, बोलने में चतुर था, इसलिए उसकी पूजा नहीं हुई। अत्यन्त त्यागमय, अत्यन्त चरित्रसम्पन्न जीवन जीने वाला, सब पर प्रेम करने वाले के रूप में उपस्थित होने के कारण, उसके प्रति इतना आदर लोगों के हृदय में प्रकट हुआ। यह अपना वैशिष्ट्य रहा है।

– संघ शिक्षा वर्ग भाषण – 1959 (खण्ड 3, पृष्ठ 163)

कुछ समय पूर्व अपने कुछ बन्धुओं ने बौद्ध मत की दीक्षा ली। अब देखा जाय तो बौद्ध मत अपना ही है। पूजा के संकल्प का उच्चारण करते हुए 'बौद्धावतारे' कहते हैं। उनको भगवान् का अवतार मानते हैं। उनके द्वारा दिया श्रेष्ठ संदेश अनुकरणीय है। फिर यदि कोई बौद्धमत ग्रहण करता है, तो वह प्रसन्नता की बात होनी चाहिए। लेकिन दीक्षा-ग्रहण कार्यक्रम में जो भाषण हुए, वे मन को कष्ट पहुँचाने वाले हैं। वहाँ कहा गया है कि बौद्धमत स्वीकार करने के कारण चीन, जापान आदि देशों में जो बुद्ध के अनुयायी हैं, उनसे अपना नजदीकी सम्बन्ध हो गया है। अब हिन्दुस्थान से अपना सम्बन्ध नहीं रहा। हमें उन नये सम्बन्धियों के सहारे हिन्दुस्थान में अपना प्रभुत्व स्थापित करना है।

अब कहाँ भगवान् बुद्ध की करुणा और कहाँ परकीयों के सहारे अपने देश को गुलाम करने की उत्सुकता? विच्छिन्नता का संकट इतना गहरा है। इसी प्रकार की बातें पहले भी हुई हैं, जिनका परिणाम गुलामी के रूप में अपने को भुगतना पड़ा।

– विजयवाड़ा भाषण–1956 (खण्ड 3, पृष्ठ 216-17)

६ अगस्त १९६३ को 'गौरव विशेषांक' में डॉ. अम्बेडकर की ७३ वीं जयन्ती पर प्रकाशित लेख में श्री गुरुजी कहते हैं – 'श्रीमत् स्वामी विवेकानन्द ने, श्रीमत् शंकराचार्य की कुशाग्र बुद्धि तथा भगवान् बुद्ध के कारुणिक विशाल हृदय का समन्वय कर भारत का सच्चा उद्धार हो सकेगा, ऐसा मार्गदर्शन किया है। कहना चाहिए कि बौद्धमत को स्वीकार तथा पुरस्कार कर, इस मार्गदर्शन का महत्त्वपूर्ण हिस्सा पूरा करने के कार्य को डॉ. अम्बेडकर द्वारा तेज गति दी गई है।

उनकी विवेचना तथा कुशाग्र बुद्धि को तत्त्वज्ञान की दृष्टि से बौद्धमत की त्रुटियाँ भी दिखती थीं, इसका उन्होंने उल्लेख भी किया है। परन्तु व्यवहार की समानता, शुचिता तथा परस्पर सम्बन्ध की कारुण्यपूर्ण स्नेहमयता, इन सारे गुणों से प्राप्त होने वाली मानवसेवा की विशुद्ध प्रेरणा, बौद्धमत की श्रद्धा से उत्पन्न होने वाले ये लाभ, राष्ट्र तथा मानवता की उन्नति के लिए अनिवार्य हैं, यह जानकर हो सकता है कि उन्होंने आग्रह से ऐसे मत का पुरस्कार किया हो।

पूर्वकाल में समाज-सुधार के लिए तथा धर्म का स्वरूप विशुद्ध करने के लिए, न कि पृथक होने के लिए, भगवान बुद्ध ने तात्कालिक समाज-धारणाओं की आलोचना की तथा सद्यःस्थिति में भी डॉ. अम्बेडकर जी ने समाज की भलाई के लिए, धर्म के हित के लिए, चिरंजीवी समाज निर्दोष तथा सुदृढ़ होने के लिए कार्य किया। उनका यह कार्य समाज से पृथक होकर भिन्न पंथ-निर्माण करने के लिए नहीं है, ऐसी मेरी श्रद्धा है। इसलिए भगवान् बुद्ध के इस युग के उत्तराधिकारी के नाते, उनकी पवित्र स्मृति का मैं अन्तःकरण पूर्वक अभिवादन करता हूँ।

– पत्ररूप – वर्णन

- स्वामी रंगनाथानंद जी, नई दिल्ली, (२७-४-१९५९)

जापान में आपके द्वारा दिए गए भाषणों की पुस्तिकाएँ प्राप्त हुईं पढ़ने पर मैं स्वयं उद्‌बोधित हुआ हूँ। आज भारत में भगवान् बुद्ध का नाम ऐहिक एवं राजनीतिक स्वार्थ-हेतु उपयोग में लाया जा रहा है। ऐसे समय में उनके विषय में सुस्पष्ट जानकारी यहाँ आवश्यक है। उनका तीव्र वैराग्य मानवता का आध्यात्मिक स्तर उठाने के लिए सर्वस्वार्पण, विशुद्ध प्रेम, सहकार्य, दया, परस्पर सहायता, स्वार्थ-त्याग व निरपेक्ष सेवाभाव तथा सनातन धर्म के अधिष्ठान पर इन सब सद्‌गुणों का विकसित आविष्कार भारत में सबके सम्मुख आग्रहपूर्वक प्रतिपादन और प्रचार करने की आवश्यकता है ...

● श्री प्रभुलाल, रंगून (बर्मा), १०-११-१९५५

बौद्धमत अपने ही धर्म का एक अंग है। वेदों का साक्षात प्रमाण न मानने से उनका भारतीयत्व नष्ट नहीं होता। अन्य भी वेद न मानने वाले, किन्तु विशाल धर्म, हिन्दू धर्म के सात्विक भाव को लेकर निराकार या शून्य की उपासना करने वाले मत यहाँ प्रचलित हैं ही। वैसा बौद्धमत भी है।

जैन मत के विषय में

जैन पंथ यज्ञ संस्था आदि मान्यताओं के विपरीत निरीश्वरवाद या निराकार की उपासना को लेकर चलने वाला है, किन्तु यह हिन्दू समाज से अलग नहीं है। समय-समय पर अपने समाज में हुई कमी को हटाने के लिए ऐसे अनेक पंथ निर्मित हुए हैं। उस समय की यही माँग थी।

- विजयादशमी भाषण, नागपुर, १९५६

एक समय मेरे सामने कुछ जैन बन्धुओं ने प्रश्न रखा कि हम लोग अपने आपको हिन्दु कैसे माने? हमारा तो अलग जैनानुशासन है। मैंने कहा,'भाई! मैं इस बारे में बोलने का अधिकारी नहीं हूँ, मैं मुनिजी से जाकर पूछ लेता हूँ।' मुनिजी के पास जाकर मैंने कहा कि 'ऐसा कुछ लोग बोलते हैं, जैन भगवान् का आदेश क्या है, यह बताइये?' उन्होंने कहा,'वेदों में सब प्रकार का ज्ञान दिया है, उपासनायें दी हैं। कुछ उपासनायें तो रजोगुणी मनुष्यों के अनुकूल हैं, कुछ तमोगुणी मनुष्यों के। वेदमाता ने किसी का भी निषेध नही किया है। ***परम कारुणिक वेदमाता ने जो केवल अत्यन्त श्रेष्ठ सत्वगुणी बन सकते हैं, उनके लिए मार्ग बताया है। बस उतने ही सिद्धान्तों को लेकर जैन संप्रदाय चला है।*** वेद की परम्परा, उसी के तत्त्वज्ञान के आधारपर अपने हिन्दू समाज के जीवन को शुद्ध सात्विक रूप से परिपुष्ट करने के लिए यह जैनानुशासन चलता है। अन्त में उन्होंने कहा,'जो अपने को हिन्दू नहीं कहेगा, वह जैन कैसे रहेगा?

इतने बड़े श्रेष्ठ आत्मानुभूति सम्पन्न महापुरुष के शब्द मेरे अंतःकरण पर अंकित हो गये। -(विहिप, प्रथम सम्मेलन, प्रयाग, २४ जनवरी १९६६)

विनाशमार्ग पर क्यों?

मैं मुंबई गया था। उस समय एक साप्ताहिक में जैन बंधुओं से इस बात की अपील करते हुए लेख प्रकाशित हुआ था कि आगामी जनगणना में जैन स्वयं को 'हिन्दू' न लिखायें, केवल 'जैन' लिखायें। उस लेख में यह प्रतिपादित किया गया है कि हिन्दू धर्म में ब्राह्मणों का वर्चस्व है, इस कारण जैनियों पर उनका प्रभुत्व स्थापित हो जाएगा। इसके बाद मेरी भेंट अपने जैन पंथ के एक महान नेता से हुई। मैंने उनका ध्यान इस बात की ओर आकृष्ट किया। उन जैन मुनिजी ने भी मुझसे कहा कि जो लोग जैनियों के हिन्दू होने से इन्कार करते हैं, वे वास्तव में समग्र समाज का विनाश करने की बात कर रहे हैं। -(विहिप, असम, जोरहाट, १९७०)

पिछले वर्ष (१९७१) जैन मतावलंबी तेरापंथी संप्रदाय के प्रमुख आचार्य श्री तुलसी जी चातुर्मास के लिए मध्य प्रदेश के रायपुर नामक शहर में पधारे थे। वहाँ लोगों ने उनके स्वागत में बड़ा उत्साह प्रकट किया। सब लोगों को प्रेरणा देने वाले उनके अच्छे प्रवचन हुए। प्रवचनों के दौरान राम कथा का एक प्रसंग आया। यह कथा '**उत्तर रामचरित**' में भी है। रावणवध के बाद रामचन्द्रजी, सीताजी और लक्ष्मणजी के साथ अयोध्या लौट आए। राज्याभिषेक भी हो गया। तब गुप्तचरों में से किसी ने

रामचन्द्रजी को बताया-'अयोध्या के कुछ नागरिकों के अनुसार सीताजी रावण के कारागार अशोक वाटिका में कई दिन रही हैं। यद्यपि आपने अग्निपरीक्षा कर ली है परंतु लोकापवाद प्रचलित है कि वह अग्निपरीक्षा उनके सामने नहीं हुई, जबकि आपने सीताजी को सिंहासन पर रानी के नाते बैठाया है।'

इस कथा का उल्लेख **जैन-मतानुसार लिखित रामायण** में किया गया है। उसमें चाहे जो लिखा हो, परन्तु इतनी बात मैं जानता हूँ कि रामचन्द्रजी का चरित्र 'शतकोटीप्रविस्तरम्' कहा गया है। इसमें से वाल्मीकि रामायण के चौबीस हजार श्लोक हमें विदित हैं। शेष विशाल रामकथा अन्यत्र कई जगह गाई गई है। अपने-अपने पहलू से रामचरित्र का गायन सबने किया है। उसमें कहीं कोई दुष्टबुद्धि है, ऐसा मानना योग्य नहीं।

जैन मत के अनुसार जो रामायण है, उसमें लिखा है कि रामचन्द्रजी ने सोचा कि सीताजी की अग्नि-परीक्षा करवानी चाहिए। बड़ी चिता रचाई गई। उस पर सीताजी को बिठाकर उसमें अग्नि दी गयी। सीताजी के तेज से अग्नि शान्त और शीतल हो गई। ऊपर बड़ा सुन्दर कमल खिलकर आया। उस पर सीताजी बैठी थीं। सब लोगों ने वह दृश्य देखा।

अब इस प्रसंग को लेकर राजनीति में काम करने वाले लागों ने हो-हल्ला मचाया। मैंने इस संबंध में ऐसा सुना है कि तेरापंथी व्यापारियों में से राजनीति में काम करने वालों को पर्याप्त धन न मिलने के कारण वे क्रुद्ध हो गये थे। उन्होंने सोचा कि इन लोगों को अच्छा पाठ पढ़ाया जाए। उन्होंने कहना प्रारंभ किया कि आचार्य तुलसीजी ने सीताजी की बदनामी की है। (वैसे उन्होंने अपने 'अग्नि परीक्षा' नामक काव्य में गुप्तचरों द्वारा भगवान् राम को सूचित किए गए लोकापवाद-प्रसंग का उल्लेख किया है)। आचार्य तुलसी को बाध्य होकर चार्तुमास का समय पूर्ण होने से पूर्व ही रायपुर छोड़कर जाना पड़ा।

इस वर्ष (१९७२) भी जब राजस्थान के चुरू शहर में आचार्य तुलसी के चार्तुमास का कार्यक्रम होना तय हुआ, तब यहाँ उनके विरुद्ध भी उत्तेजना फैलाई गई। दीवारों पर ऐसे भद्दे-भद्दे शब्द लिखे गये, जिन्हें देखकर कोई कह नहीं सकता कि यह सज्जनों का देश है, सर्व-संग्राहक हिन्दू संस्कृति के पानलकर्ताओं का देश है। -(गुजरात विहिप सम्मेलन, सिद्धपुर, २७ अक्टूबर १९७२)

- राजस्थान जैन सभा के मंत्री श्री रतनलाल जैन को २० अक्टूबर १९६१ को श्री गुरुजी लिखते हैं - .. भगवान् महावीर जी के शुद्ध, सात्विक जीवन का संदेश, आज तम-प्रधान रजोगुण-युक्त अतएव स्वार्थी मानव-जीवन में इष्ट परिवर्तन लाने के लिए अत्यावश्यक है। अतः वैसा पवित्र जीवन व्यतीत करने वालों का समुदाय खड़ा होकर, उसके द्वारा उनका संदेश प्रसार करने में संलग्न होना लाभदायक होने के कारण आपका यह कार्य अतीव अभिनंदनीय है।

रामकृष्ण मिशन सर्व-समावेशक धर्म का प्रचारक

डॉ. सैफुद्दीन जिलानी के साथ वार्ता में (खण्ड ९, पृष्ठ १९२) श्री गुरुजी कहते हैं कि धर्म के अधिष्ठान के बिना कुछ भी हासिल नहीं होगा। धार्मिकता होनी ही चाहिए। 'रामकृष्ण मिशन' को ही लें। यह आश्रम व्यापक और सर्वसमावेशक धर्म-प्रचार का कार्य कर रहा है। अतः आज तो इसी दृष्टिकोण और वृत्ति की आवश्यकता है कि ईश्वरोपासना-विषयक विभिन्न श्रद्धाओं को नष्ट न कर उनका आदर करें, उन्हें टिकाए रखें और उन्हें वृद्धिंगत होने दें।

विभिन्न व्यक्तियों को लिखे गये पत्रों में भी श्री गुरुजी उर्पयुक्त दृष्टिकोण को ही विशद करते हैं :-

- श्री पी. शंकर नारायणन, चेन्नई, ३० सितम्बर १९५३

जिन्हें अपने प्राचीन राष्ट्र-जीवन तथा उसके शाश्वत जीवन-मूल्यों का परिपूर्ण ज्ञान है, जिनका अपने संस्कृति के आदर्शों के अनुसार आचरण है तथा जो समाज में सांस्कृतिक मूल्यों का सही प्रसार करना चाहते हैं, उनकी हमारे कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यकता है। आप भारतीय दर्शन के विद्वान पंडित हैं तथा रामकृष्ण मिशन से, जो भारतीय दर्शन का प्रत्यक्ष आचरण कर रहा है, सम्बंधित है। आप इस कार्य में बहुमूल्य योगदान दे सकते हैं।.

● कालड़ी (केरल) के श्री भास्कर मेनन को १६ अगस्त १९५६ को प्रेषित अंग्रेजी पत्र में श्री गुरुजी के विचारों का संक्षेप इस प्रकार है :-

श्रद्धेय स्वामी आगमानन्द जी के साहित्य-संकलन एवं प्रकाशन की आपकी कल्पना अतीव सुखद है। श्री स्वामी जी के जीवन में अपने समाज, धर्म एवं संस्कृति की निरपेक्ष सेवा सार्थक हुई है। भारत के बाहर संप्रदायों द्वारा धार्मिकता का स्वाँग रचकर राजकीय स्वार्थ सिद्ध करने-हेतु की जा रही कार्यवाही के प्रति स्वामीजी की उग्र भावना सर्वपरिचित है। इसीलिए भक्ति, ज्ञान एवं कठोर कर्मयोगी जीवन की अनुभूति से अभिव्यक्त उनके विचार भावी पीढ़ी को निरन्तर स्फूर्ति प्रदान करेंगे। ...भगवान् रामकृष्ण आपको यशस्वी करें।

● दीनदयाल जी को अमेरिका में मिशन-सम्पर्क की सलाह

भारतीय जनसंघ के तत्कालीन अखिल भारतीय महामंत्री पं. दीनदयाल उपाध्याय के अमेरिका यात्रा पर जाने के अवसर १६ सितम्बर १९६३ को भेजे पत्र में श्री गुरुजी सलाह देते हैं :- ..न्यूयार्क के रामकृष्ण मिशन में स्वामी निखिलानन्द जी हैं; किन्तु मेरा उनसे परिचय नहीं है। परन्तु भारतीय के नाते वहाँ आपका स्वागत होगा, ऐसा मुझे विश्वास होने से आप बिना परिचय पत्र के भी स्वयं होकर वहाँ पहुँचे तो ठीक होगा। उनका कार्य किस प्रकार चल रहा है, कितना प्रभाव निर्माण कर रहा है, इसका ज्ञान हो सकेगा।

● रामकृष्ण परमहंस का दिव्य जीवन सामने रखें

मौरिसपेठ (नागपुर) के स्वामी चिरंतनानंद जी को १६ सितम्बर १९५६ के पत्र में श्री गुरुजी द्वारा व्यक्त विचारों का संक्षिप्त रूप इस प्रकार है :- रामकृष्ण आश्रम से आपका भक्तियुक्त हृदय से निकटवर्ती सम्बन्ध है। आपने परम श्रद्धेय (शारदा) माँ का एवं स्वामी विवेकानन्द जी का चरित्र-लेखन किया है इसीलिए आपने भगवान् रामकृष्ण के लीला-चरित्र के अलौकिक एवं दिव्य पहलुओं की अभिव्यक्ति सफलतापूर्वक की होगी। ..

आन्ध्र प्रदेश के सामाजिक जीवन के सब स्तरों के लोगों तक भगवान् रामकृष्ण के जीवन की दिव्य प्रेरणा इस पुस्तक के द्वारा पहुँचेगी ऐसी आशा है। आप भगवान् रामकृष्ण के कृपापात्र हैं, अतः उनका स्मरण कर मैं आपके चरण स्पर्श करता हूँ।

आधुनिक भारत-निर्माण के प्रथम प्रेरक महर्षि दयानंद

१० अक्टूबर, १९५४ को श्री भारतेन्दु नाथ को पत्र भेजते हुए श्री गुरुजी महर्षि दयानंद के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट करते हुए कहते हैं :- महर्षि दयानंद जी की स्मृति में आप अतिरिक्तांक प्रकाशित कर रहे हैं वह उचित ही है, क्योंकि आधुनिक भारत के निर्माण में सर्वप्रथम प्रेरक के नाते उनका स्थान

अनन्य है। अपनेपन का उद्दीप्त स्वाभीमान लेकर उन्होंने सोए समाज को जागृत किया। अनुकरण की दास-वृत्ति पर प्रहार कर स्वतंत्र प्रतिभायुक्त राष्ट्रीय अस्मिता का संदेश दिया।

जीवन का कोई क्षेत्र उनके तेजस्वी विचारों से अछूता नहीं रहा। उनके उपकारों से उऋण होने के लिए उनके निर्दिष्ट स्वाभीमान को लेकर जाति-जागरण का कर्तव्य पूरा करने हेतु सचेष्ट रहना-यही उचित होगा।

केवल स्मरण-समारोह आदि बाह्यांगों से क्या होगा? अतः उनकी पवित्र स्मृति को अंतःकरण में धारण करने वाले सब व्यक्तियों को आत्म निरीक्षण कर उनके उपदेश एवं जीवन-चरित्र में प्रकट गुणों को सब कितना चरितार्थ कर रहे हैं, इसकी जाँच-पड़ताल कर योग्य जीवन-निर्माण की ओर सतर्कता से ध्यान देना आवश्यक है। आशा है, महर्षि की प्रेरणा फिर से जाग उठेगी और जीवन में उत्तम तेजस्विता प्रकट होगी।

● श्री के. ई. रामस्वामी, चेन्नई, दि. १५-११-१९६७ को लिखे अंग्रेजी पत्र का संक्षेप :-

विषय अत्यन्त श्रेष्ठ है। मैं इतना ही कहूँगा कि महर्षि दयानन्द की पवित्र स्मृति में मैं नतमस्तक होता हूँ। उन्होंने बौद्धिक प्रबोधन, तर्कवाद तथा हमारे धर्म व राष्ट्र के मूल स्तोत्र, वेदों के प्रति श्रद्धा के नवयुग का सूत्रपात किया तथा लागों में अपने पौरुष व देवत्व पर आग्रह रखने हेतु जागृति भर दी।

'तिरुक्कुरल' का हिन्दी अनुवाद प्रशंसनीय

● हिन्दी प्राध्यापक **श्री मु. गो. वेंकट कृष्णन** (करोकुडी) को २१ मार्च १९६८ के पत्र में अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए श्री गुरुजी लिखते हैं।

परम श्रेष्ठ सद्ग्रंथ 'तिरुक्कुरल' (संत तिरुवल्लुवर-रचित) का स्वर्गीय वि. वि. एस. अय्यर कृत अंग्रेजी अनुवाद बहुत वर्ष पूर्व पढ़ा था। तभी से अपने देशवासियों से इस महान ग्रंथ का अध्ययन करने का आह्वान मैं समय-समय पर करता आ रहा हूँ। अब मेरे पास आपने किया हुआ दोहा-रूप हिन्दी अनुवाद कल आया है। कल ही रात्रि में उसका बहुतांश मैंने पढ़ लिया। अति मधुर उतरा है। यह अनुवाद है, यह बात यदि किसी ने नहीं कही, तो इसको मूल ग्रंथ माना जा सकेगा, इतना सहज, सरल, सुंदर यह बना है। हिन्दी पढ़ सकने वाले अपने भाइयों के ऊपर आपने महान उपकार किया है। शैक्षणिक संस्थाओं को बिना मूल्य एक-एक प्रति भेंट करने के निमित्त एक सहस्त्र (पुस्तकें) वितरित करने हेतु श्रद्धेय वि. वि. एस. अय्यर के सुपुत्र डॉ. कृष्णमूर्ति जी के नाम पत्र लिखकर (मैंने) उनको मेरे धन्यवाद अर्पित किये हैं। आपका हार्दिक अभिनंदन करता हुआ, अपने देश पर आपने किये महान उपकार के लिए आपको अंतःकरण-पूर्वक शतशः धन्यवाद देता हूँ।

वारकरी संप्रदाय

● वारकरी सम्प्रदाय के विशेष अधिकारी पुरुष पू. श्री धुंडा महाराज देगलुरकर के ६१ वें जन्मदिवस पर पंढरपुर में आयोजित समारोह में प्रकट उद्गार :-

बहुत पुरानी बात है। वारकरियों के सम्बन्ध में मेरे कुछ पूर्वाग्रह थे। ..यह झाँझ -मृदंग बजाने वाला साधारण व्यक्ति है। इससे अधिक कोई अर्थ नहीं है। मुख से भिन्न-भिन्न अभंग (छंद) वह अवश्य कहता है, परन्तु उसका वास्तविक अर्थ वह जानता नहीं। ..परन्तु मैंने जो प्रवचन सुना (नागपुर में धुंडा महाराज का), उससे मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ कि मेरा यह भ्रम निरर्थक है। धुंडा महाराज के उस

प्रवचन में भक्ति तो थी ही, उसके अतिरिक्त अपने जीवन के भिन्न-भिन्न राजनैतिक एवं सामाजिक प्रश्नों का भी विवेचन किया गया था।

'ज्ञानेश्वरी' साहित्य की दृष्टि से मराठी भाषा का सर्वश्रेष्ठ ग्रंथ है। इसी कारण अपने सारे लोग उसका गुणगान करते हैं। श्रद्धेय धुंडा महाराज भी अपनी विद्वतापूर्ण आकर्षक शैली से सतत् प्रवचन करते हुए उसी ग्रंथ को समझाते हैं।

साहित्य की दृष्टि से तो वह ग्रंथ उत्तम है ही, परन्तु उसमें प्रतिपाद्य विषय के बारे में जानने की मुझे लालसा हुई। इस हेतु महान पुरुषों के पास बैठकर जो कुछ अध्ययन कर समझ सका उससे यह ध्यान में आया कि आजतक वारकरियों पर 'बुवाबाजी' अर्थात ढोंगीपन का जो आरोप करते हैं, वह निराधार है।

वस्तुतः यह संप्रदाय अद्वैत सिद्धांत पर अधिष्ठित तथा अति श्रेष्ठ भक्ति द्वारा व्यक्ति को परम श्रेष्ठ सुख प्राप्त करा देने वाला है, यह मेरी अनुभूति है और उसमें अभी तक किसी प्रकार की भूल तो प्रतीत नहीं हुई, अपितु वह अधिकाधिक दृढ़ ही होती जा रही है।

● ***राष्ट्रसंत तुकड़ोजी महाराज*** को श्रद्धांजली लेख (११ अक्टूबर १९६१) के माध्यम से श्री गुरुजी वारकरी संप्रदाय के विषय में कुछ और भी विचार प्रकट करते हैं :-

पंथ विशेष का संकुचित दृष्टिकोण त्यागकर सर्वव्यापी धर्म का पुनरुत्थान उन्हें अभीष्ट था। इसलिए असहिष्णु पंथ की ओर दुर्लक्ष्य कर, सब पंथों को व्याप्त कर सकने वाला आधारभूत विशुद्ध अद्वैत और ज्ञानयुक्त परम भक्ति की शिक्षा देने वाले सच्चे हिन्दु धर्म को जागृत करने के लिए उन्होंने अपना सम्पूर्ण शारीरिक सामर्थ्य तथा आध्यात्मिक तेजस्विता समर्पित की। जिन-जिन स्थानों पर इस धर्म का बीज उन्होंने देखा, वहाँ-वहाँ वे पहुँचे। लागों को जागृत करने के लिए, उन्हें उत्तम ऐहिक जीवन तथा भगवद्भक्ति में सामंजस्य स्थापित कर आदर्श जीवन व्यतीत करके शिक्षा देने के लिए अत्यन्त परिश्रम किया। ..जन-मानस पर जिसकी पकड़ है, उस वारकरी संप्रदाय को संगठित करने के कार्य में उन्होंने पहल की।

इसी समय विश्व के सभी हिन्दुओं में धर्म-प्रवणता तथा भारत-भक्ति की जागृति का लक्ष्य सामने रखकर विश्व हिन्दू परिषद स्थापित करने का संकल्प अनेक मनीषियों के मन में उदित हुआ। पंथोपपंथों के प्रमुखों को आमंत्रित कर परिषद की रूपरेखा तथा कार्य की दिशा का निश्चय हुआ। ..यह अनुभव कर कि वे स्वयं जो कार्य कर रहे थे, वह संपादन करने का एक अन्य मार्ग परिषद के रूप में उद्घाटित हो रहा है, उन्होंने प्रारंभ से ही इसकी ओर अपना पूर्ण ध्यान दिया। प्रथम बैठक में उपस्थित होकर इतना सुस्पष्ट तथा प्रभावी मार्गदर्शन किया कि परिषद का कार्य करने वालों को कोई भी संदेह या बाधा का अनुभव नहीं हुआ।

पारसी विदेशी नहीं

७ वीं-८ वीं सदी में जब बर्बर अरब और तुर्कों ने फारस पर आक्रमण किया, उस समय कुछ पारसी अपनी मातृभूमि को छोड़कर तथा अपनी पवित्र अग्नि एवं धर्म-पुस्तक को लेकर जल-पथ से चल पड़े और सूरत में आकर उतरे। राजा यादव राणा ने उनका खुले हृदय से स्वागत किया और द्वारिकापीठ के शंकराचार्य से पूछा कि उन्हें किस भाँति ग्रहण किया जाए। उनसे कह दिया गया कि वे हमारी राष्ट्रीय निष्ठा की वस्तु गोमाता का सम्मान करते हुए गोमांस भक्षण त्याग दें और यहाँ शांतिपूर्वक

रहें। इन जरथुस्त्र के अनुयायियों ने आज तक अपनी प्रतिज्ञा का पालन किया है। वे राष्ट्रीय जीवन की मुख्यधारा में पूर्ण रूप से विलीन हो गये हैं।

इस विशाल हिन्दू जनसंख्या के बीच एक मुट्ठी भर संख्या में वे लोग आज भी अपने धार्मिक विश्वासों का पूर्ण स्वतंत्रता के साथ पालन करते हुए विद्यमान हैं। उन्हें किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं हैं। क्या यह ज्वलंत उदाहरण ही यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त नहीं है कि धर्म-परिवर्तन को बलात् लादने की बात हिन्दू समाज के मन में आ ही नहीं सकती।

(पांचजन्य, ६ अप्रेल १६७०)

पारसी हिन्दू ही हैं

● विश्व हिन्दू परिषद के तत्कालीन महामंत्री श्री दादा साहब आपटे को २५ अगस्त १६६७ को मराठी में लिखित पत्र में श्री गुरुजी पारसी समाज के संबंध में अपना दृष्टिकोण प्रकट करते हुए कहते हैं :-

..श्री दादाभाई नौरोजी, फिरोजशाह मेहता, मैडम कामा आदि का अनेक बार गौरवपूर्ण उल्लेख कर मैंने ऐसा प्रकट रूप से कहा था कि पारसी बंधु राष्ट्रजीवन में राष्ट्र की आशा-आकाँक्षाओं से एकरूप हुए हैं, इसलिए उनका पृथकत्व से विचार करने की अब आवश्यकता नहीं है। वे वास्तव में हिन्दू ही हैं और उनकी राष्ट्रीय वृत्ति के कारण उन्हें 'अधिक प्रमाण में हिन्दू' कहना ही उचित है।

उसी दृष्टि से नागपुर के बाल स्वयंसेवकों के शीतकालीन शिविर के उद्घाटन के लिए अध्यक्ष के नाते मेरे निकट के मित्र श्री जाल पी गिमी को आमंत्रित किया गया था। उन्होंने अध्यक्ष पद विभूषित भी किया था। आपको लगे तो उन (पारसी सहयोगियों) की जानकारी के लिए उन्हें यह सूचित करें एवं यह नम्रतापूर्वक बताएँ कि वे ऐसी कोई गलत फहमी न पालें कि हम उन्हें पृथक मानते हैं।

● ***श्री ए. एच. डॉक्टर, औरंगाबाद***

{***श्री नीरद सी चौधरी*** द्वारा 'The Continent of Circe' नामक ग्रन्थ में पारसियों के प्रति जो अनुदार अभिप्राय प्रकट किया गया है, उसकी ओर पत्र-प्रेषक श्री डॉक्टर द्वारा श्री गुरुजी को अवगत कराया गया। उत्तर में श्री गुरुजी लिखते हैं :-}

इस विषय पर हमारे और आपके विचार समान हैं। वस्तुतः मैं सोचता रहा हूँ कि पारसियों की मूल रूप से वही धार्मिक और दार्शनिक पृष्ठभूमि है जैसे शेष हिन्दू जाति की। और ..भारत में कई शताब्दियों से बस जाने के बाद उन्होंने दिन-प्रतिदिन के जीवन के अनेक पक्षों में हिन्दू समाज के साथ अपना मिश्रण कर लिया है। इस रूप में मेरी प्रबल इच्छा होगी कि हम सभी अपनी विविध विशिष्टताओं को समाप्त किए बिना एक ही नाम 'हिन्दू' के अंतर्गत रखे जाएँ।

मैं आपसे सहमत हूँ कि पारसियों को इस भूमि में विदेशी कहना अथवा यह कहना कि हिन्दुओं और पारसियों में एक दूसरे के प्रति संदेह व्याप्त है, न केवल गलत है, अपितु अन्यायपूर्ण भी है।

श्री नीरद चौधरी का अन्यायपूर्ण वक्तव्य कितना झूठ है, यह हम सब देश में अपेक्षित वातावरण निर्माण कर ही सिद्ध कर सकते हैं।

भारत में ईसाइयों और मुसलमानों के सम्बन्ध में विचार

देश में वास करने वाले यहूदी और पारसी इस देश के प्रति भक्त रहे। बचे केवल मुसलमान और ईसाई। ईसाइयों ने उस समय अधिक गड़बड़ नहीं की, क्योंकि वे अंग्रेजी शासन को स्वबान्धवों का शासन समझते थे। इसलिए वे उनके शासन को दृढ़ बनाने में सहयोग ही देते थे। अंग्रेज तो ईसाइयों को प्रोत्साहन देते ही थे। सन् १८५७ के स्वतन्त्रता संग्राम में ईसाई मिशनरियों द्वारा सेना में घूम-घूमकर ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति वफादारी का प्रचार किया गया। इसके अतिरिक्त स्वतन्त्रता-संघर्ष में रत लोग भ्रांत धारणा रखते थे कि प्रजातन्त्र के अगुआ यूरोप के सहधर्मी ईसाई प्रचारक, स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के प्रचारक हो सकते हैं।

भारत में मुसलमानों और ईसाइयों के जीवन में आज जो विदेशी भाव दिखाई देता है, उसके ऐतिहासिक कारण हो सकते हैं। क्योंकि भारत में इन दोनों ही पंथों का प्रसार परकीय, राजसत्ता के साथ, उसके साधन के रूप में तथा उसकी छत्रछाया में हुआ। इन विदेशियों ने अपनी उपासना-पद्धति की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर अपने मत का प्रसार नहीं किया, अपितु आतंक और अत्याचार का सहारा लेकर यहाँ के राष्ट्रीय जनों का उनकी प्राचीन परम्परा से विच्छेद, उन्हें अपनी सत्ता के समर्थक बनाने के उद्देश्य से किया। जीवन के भय और सत्ता के लोभ के कारण अनेक लोगों ने इन उपासना-पद्धतियों को स्वीकार किया, साथ ही वे विदेशियों की जीवन-पद्धति के भी अनुरागी बन गए। यह सब हमारी गुलामी का ही द्योतक है। (पांचजन्य, राष्ट्रीय एकता विशेषांक, १९६०)

● **'विचार नवनीत'** में हिन्दू राष्ट्र की अनुपमता प्रतिपादित करते समय सेमेटिक विरोधाभास की चर्चा करते हुये श्री गुरुजी कहते हैं :-

यहूदीवाद ऐसा पहला मजहब है, जो असहिष्णु है और इसकी इसी असहिष्णुता के कारण ईसा मसीह को सूली पर चढ़ा दिया गया था। ईसाई मजहब का उदय यहूदी-संतति के रूप में हुआ, किन्तु वह भी उतना ही असहिष्णु सिद्ध हुआ। निःसंदेह यीशु महान संत थे, परंतु बाद में उनके नाम पर जो कुछ हुआ, उसका उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रहा। यह ईसाईवाद नहीं, केवल चर्चवाद रह गया। यह कथन अक्षरशः सत्य सिद्ध हुआ कि 'आजतक केवल एक सच्चा ईसाई हुआ, जो सूली पर मर गया'। ईसाईयों ने यहूदियों को ईसा के हत्यारे घोषित कर उन पर हर प्रकार के अत्याचार किये। हिटलर का व्यवहार अपवाद नहीं था, बल्कि ईसाइयों द्वारा २००० वर्ष से यहूदियों पर ढाये जा रहे अत्याचारों की चरम परिणति था।

● **3 फरवरी 1969, कंचनगढ़, कासारगोड** में (केरल) स्वयंसेवको से वार्ता में वे प्रतिपादित करते हैं :-

हम जिसे आज ईसाई मत कहते हैं, वह ईसा मसीह की मृत्यु के कुछ सदियों के पश्चात् बना है। उसमें भी किसी ने ईसा मसीह के विषय में प्रमाणित नहीं किया है। ईसा के चार शिष्यों ने जो कहा है, ईसाई मत के लागों को वही जानकारी है। उन चार शिष्यों की विचार-प्रतिपादन शैली भिन्न है। इनके अनेक विचार भी एक-दूसरे से मेल खाने वाले नहीं हैं। इन सब को सुसूत्र संगठित कर चर्च संस्था प्रस्थापित करने का कार्य पॉल महोदय ने किया। उस क्षेत्र विशेष के जानकार ज्ञाता इसे चर्च का मत मानते हैं। यहूदी लोगों के बारे में पॉल महोदय कहते हैं कि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह सही नहीं है कि उनका मूल स्थान पैलेस्टाइन है। आतंकित कर शत्रुओं ने उनको अपने मूलस्थान से बाहर खदेड़ दिया। अतः वे लाल सागर पार कर पैलेस्टाइन में आये। वहाँ के मूल निवासी अरब लोगों पर विजय प्राप्त कर उनको बाहर भगाकर यहूदी पैलेस्टाइन में बस गए, इस कारण से यहूदी लोगों को वहाँ

रहने का नैतिक अधिकार नहीं है। राजनीति में चलने वाली गतिविधियाँ आज भले ही भिन्न हैं, ऐतिहासिक सत्य मैंने आपके सम्मुख प्रस्तुत किया है।

जो सोचते है कि केवल ईसा ही 'जंगली' हिन्दुस्थान का उद्धार कर सकता है, उन्हें गंभीरता से इस बात का विचार करना चाहिए कि रूस-जैसे कट्टर ईसाई देश ने ईसा को क्यों अस्वीकार किया। उन्होंने ईसाइयत को क्यों उखाड़ फेंका? यहाँ तक कि मार्क्स ने भी नहीं सोचा था कि रूस में क्रान्ति हो सकती है।

असली इरादे

जहाँ तक ईसाइयों का संबंध है, ऊपरी तौर से देखने वाले को तो वे नितांत निरुपद्रवी ही नहीं, वरन् मानवता के लिए प्रेम एवं सहानभूति के मूर्तिमान स्वरूप प्रतीत होते हैं। उनकी वक्तृताएँ 'सेवा' एवं 'मानवोद्धार' जैसे शब्दों से परिपूर्ण रहती हैं। उनसे प्रतीत होता है मानो सर्वशक्तिमान ने उन्हें मानवता के उत्थान के लिए विशेष रूप से नियुक्त किया है। सब स्थानों पर वे स्कूल, कॉलेज, अस्पताल तथा अनाथालय चलाते हैं। हमारे देश के लोग, जो सीधे-सादे और भोले हैं, इन बातों पर विश्वास करने लगते हैं। किन्तु इन सब गतिविधियों में करोड़ों रुपए ऊँडेलने में ईसाइयों का वास्तविक और अंतरस्थ उद्देश्य कुछ अलग ही है।

हमारे स्वर्गीय राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्रप्रसाद एक बार असम गये थे। उन्होंने वे स्कूल और अस्पताल देखे, जिन्हें ईसाई धर्मप्रचारकों ने उन पहाड़ी प्रदेशों में स्थापित कर रखा था। उन्होंने उन सब कार्यों के प्रति अपना संतोष व्यक्त किया, किंतु अंत में यह उपदेश भी दिया कि- निस्संदेह तुमने बहुत अच्छा काम किया है, परंतु इन चीजों को धर्मांतरण के उद्देश्य के लिए उपयोग में मत लाना। पर उनके बाद जो धर्मप्रचारक बोला, उसने सीधे शब्दों में कह दिया- ***'यदि हम केवल मानवता के विचार से ही यह करने के लिए प्रोत्साहित हुए होते तो यहाँ इतनी दूर क्यों आते? इतना धन हम लोग क्यों व्यय करते? हम तो यहाँ एक ही निमित्त से हैं कि अपने प्रभु ईसा के अनुयायियों की संख्या में वृद्धि करें।'*** वे इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट हैं।

अनेक प्रमुख ईसाई धर्मप्रचारक इस बात को असंदिग्ध रूप से घोषित कर चुके हैं कि उनका एक ही लक्ष्य है- इस देश को ईसा के साम्राज्य का एक प्रांत बनाएँ। चेन्नै के 'वेदांत केसरी' की सूचना के अनुसार मदुरै के आर्क बिशप ने कहा है कि उनका मुख्य उद्देश्य है संपूर्ण भारत पर ईसा के झंडे को फहराना। अभी हाल में मुंबई में हुई युकेरिस्टक कांग्रेस में कार्डिनल ग्रेशियस इस बात से दुःखी थे कि शताब्दियों तक धर्मांतरण करने के पश्चात् भी भारत में केवल साठ लाख ही कैथोलिक ईसाई हैं और हिन्दू बहुसंख्या में बने हुए हैं। उन्होंने अपने अनुयायियों को प्रोत्साहित करते हुए कहा कि अब से उनमें प्रत्येक व्यक्ति धर्मांतरण के कार्य के लिए स्वयं को धर्म-प्रचारक समझे। इसका अर्थ है कि देश की संपूर्ण जनता ईसाई धर्म में धर्मान्तरित हो जानी चाहिए, अर्थात् उनका वंश, परंपरागत धर्म, दर्शन, संस्कृति तथा जीवनपद्धति ध्वस्त हो जानी चाहिए, और उन्हें ईसाई धर्म के विश्वसंघ में विलीन हो जाना चाहिए।

धर्म की जो कल्पना ईसाई प्रचारकों द्वारा प्रचारित की जाती है, वह सचमुच आश्चर्यकारक है। मैं एक बार धर्मप्रचारक से मिला। उसने मुझे इंग्लैंड के एक आर्क बिशप द्वारा लिखी गई एक पुस्तक दी और कहा कि इस पुस्तक द्वारा मुझे उनके कार्य की प्रकृति के विषय में स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा। मैंने उसे पढ़ा। जब मैंने उसे पुस्तक लौटाई तो उसने अत्यंत उत्साहपूर्वक पूछा कि पुस्तक कैसी थी? मैंने उत्तर दिया- 'यदि तुम्हारा आर्क बिशप ऐसा है तो तुम क्या होगे?' वह इस बात से चौंका। मैंने उस पुस्तक

के कुछ अंश उसे दिखाए जिनमें लिखा था कि ईश्वरप्राप्ति के लिए इतना ही पर्याप्त है कि प्रतिदिन दो बार प्रार्थना कि जाए और रविवार को गिरजाघर में जाया जाए। शेष समय में सभी प्रकार के शारीरिक आनंद एवं भोगों का सेवन करने में कोई हानि नहीं है। सत्य है कि ये शब्द उस महान संत ईसा के उपदेशों के पूर्ण विरुद्ध हैं।

लोकमान्य तिलक ने ईसा के महान शिष्य संत पॉल को अपने 'गीता रहस्य' में उद्धृत किया है। वह भी ईश्वर से कहता है– ***'यदि मैं असत्य भाषण द्वारा तुम्हारी (ईश्वर की) महिमा की वृद्धि करता हूँ, तो वह पाप कैसे हो सकता है?'*** इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि उनके इस वक्तव्य का वर्तमान ईसाई धर्मप्रचारकों ने अपने कुचक्रों को आगे बढ़ाने में पूर्ण उपयोग किया है। यह सच ही कहा गया है कि दुनिया में सच्चा ईसाई केवल एक ही हुआ है और क्रुस पर उसकी मृत्यु हुई।

ईसाई धर्मप्रचारकों की गतिविधियाँ केवल अधार्मिक ही नहीं, राष्ट्रविरोधी भी हैं। एक बार मैंने एक ईसाई धर्मप्रचारक से प्रश्न किया कि वे हमारे पवित्र ग्रंथ और देवी-देवताओं की निंदा क्यों करते हैं? उसने स्पष्ट उत्तर दिया– ***'हमारा लक्ष्य है कि हिन्दू के हृदय से उसके धर्म के प्रति विश्वास को झटककर बाहर कर दिया जाये। जब उसका यह विश्वास ध्वस्त हो जाएगा, तब उसका राष्ट्रत्व भी नष्ट कर दिया जाएगा। उसके मतिष्क में एक रिक्तता उत्पन्न हो जाएगी, तब हमारे लिए उस रिक्तता को ईसाइयत से भरना सरल हो जाएगा।'***

कुछ वर्ष पूर्व मध्यप्रदेश सरकार ने इन ईसाई धर्मप्रचारकों की गतिविधियों के संबंध में सूचना देने के लिए एक समिति गठित की थी। ***इस समिति के अध्यक्ष श्री नियोगी उच्च न्यायालय के एक अति सम्माननीय अवकाशप्राप्त न्यायाधीश थे,*** जो किसी भी गुट या दल के व्यक्ति नहीं थे। समिति के सदस्यों ने संपूर्ण मध्यप्रदेश का दौरा किया और धर्मांतरित ईसाइयों, ईसाई धर्मप्रचारकों तथा अन्यान्य लोगों से भेंट की। वे अनेक गिरजाघरों में भी गए। अपनी व्यक्तिगत जाँच के आधार पर उन्होंने सन् १९५७ में एक लंबा प्रतिनिवेदन प्रस्तुत किया। उस प्रतिनिवेदन का सार इस प्रकार है– ***'ईसाई धर्मप्रचारकों के सभी औदार्यपूर्ण कार्य उनकी धर्मांतरण की गतिविधियों को चलाने के लिए एक आवरण मात्र है। भोले-भोले लोगों को कभी त्रस्त करके और कभी प्रलोभन देकर वे अपना उपर्युक्त कार्य करते हैं। इन गतिविधियों के मूल में उनकी यह महत्वाकाँक्षा है कि उनकी संख्या की शक्ति के आधार पर अपने लिए एक अलग ईसाई राज्य बना लिया जाए, वे इसी एक उद्देश्य से करोड़ो रुपए व्यय कर रहे हैं।'***

कुछ वर्षों पूर्व यूरोप में ईसाई पादरियों के एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में एक लघु पुस्तिका प्रकाशित की गई थी, जिसमें हमारे पूरे समुद्री तट पर और विंध्य एवं सातपुड़ा की पहाड़ी श्रेणियों के बीच इधर से उधर तक ईसाई-प्रभाव के केन्द्र आरंभ करने की विस्तृत योजना थी। वह दक्षिणी प्रायद्वीप को घेरकर उसे ईसाई वर्चस्व के अधीन लाने की योजना का प्रथम चरण था। फिर दूसरे प्रसार में हिमालय की संपूर्ण मेखला पर वर्चस्व करना था।

कुछ दिनों पूर्व वृत्त-पत्र में एक भेद प्रकाशित हो गया था कि हमारे देश में ईसाई मिशन और मुस्लिम लीग में यह समझौता सन् १९४२-४४ के लगभग हुआ है कि दोनों को मिलकर काम करना चाहिए और आपस में देश का बँटवारा कर लेना चाहिए। इस बँटवारे के अनुसार पंजाब और मणिपुर के बीच गंगा का संपूर्ण मैदान मुसलमानों का तथा दक्षिणी प्रायद्वीप और हिमालय ईसाइयों का था।

कुछ वर्ष पूर्व ईसाइयों का एक अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ था, जिसमें उनसे भारत में ईसाई साम्राज्य स्थापित करने का संकल्प कराया गया था। हमारे केन्द्रीय मंत्रियों में से एक उन कार्यवाहियों को आशीर्वाद देने के लिए उपस्थित था।

जीसस ने अपने अनुयायियों से कहा था कि अपना सब कुछ गरीब, अज्ञानी तथा दलित को दे डालने के लिए है, किंतु उसके अनुयाइयों ने व्यावहारिक रूप में यह कहा कि वे जहाँ भी गए 'रक्त देनेवाले' सिद्ध न होकर 'रक्त चूसनेवाले' सिद्ध हुए। जहाँ इन तथाकथित क्राइस्ट के अनुयाइयों ने अपने उपनिवेश बनाए हैं, उन सभी देशों की क्या गति हुई है? जहाँ कहीं उन्होंने कदम रखा, वहाँ के निवासियों को लुप्त कर दिया। क्या हम वे हृदयद्रावी कहानियाँ नहीं जानते कि किस प्रकार उन्होंने अमरीका, आस्ट्रेलिया और अफ्रीका के मूल निवासियों का समूल नाश किया। इतनी दूर जाने की क्या आवश्यकता है? क्या हमें ईसाई मिशनरियों का अपने देश का भीषण अत्याचारी इतिहास ज्ञात नहीं है कि उन्होंने गोवा तथा अन्य स्थानों पर किस तरह से लोगों का उत्पीड़न किया?

गोवा में ईसाई-बर्बरता

संत जेवियर के विषय में कहा जाता है कि उस समय वह अपने जीवन में परम आनन्द का अनुभव करता था, जब नवीन धर्मांतरित जन अपने पूर्व के देवी-देवताओं को पैरों से कुचलते थे, मंदिरों को ढहाते थे तथा अपने ही माता-पिता और वृद्ध जनों को, जो हिन्दू रह जाते थे, अपमानित करते थे। अभी अति निकट काल में कांग्रेस शासन-काल के अंतर्गत केरल में सैंकड़ों प्राचीन पवित्र हिन्दू मंदिर अपवित्र किए गए तथा ईसाई शिल्प-भंजकों ने उनकी मूर्तियों को तोड़ा, इसमें शबरी मलाई का प्रसिद्ध मंदिर भी है। ये वही धर्मांध ईसाई हैं, जिन्होंने कन्याकुमारी में विवेकानंद शिला पर स्थापित पट्टिका को तोड़ा था। इस प्रकार के हैं ये लोग, जो हमें यह उपदेश देने आते हैं कि ईसाई धर्म मानवता पर शांति, मंगल एवं मानवीय दयालुता की वर्षा करेगा।

यहाँ जब तक ईसाई इस प्रकार की गतिविधियों में लगे हुए हैं और अपने को ईसाई धर्म के प्रसार के लिए अंतर्राष्ट्रीय आंदोलन का एजेंट मानते हैं, अपनी इस जन्मभूमि के प्रति सर्वोच्च निष्ठा अर्पण करने से तथा अपने पूर्वजों के पैतृक दाय एवं संस्कृति की सच्ची संतान के रूप में व्यवहार करने से इनकार करते हैं, तब तक वे यहाँ विदेशियों के रूप में रहेंगे और उनके साथ उसी प्रकार का व्यवहार किया जाएगा।

फिर भी ..

ईसाइयत पर संतुलित विषय प्रतिपादन का स्वागत -

ईसाइयत के विषय में उनकी धारणा में भी हिन्दू धर्म की उदारता झलकती थी और वे पूर्वाग्रह -रहित विचार प्रस्तुत करते थे। त्रिवेन्द्रम के श्री कृष्णानंद जी को २५ नवम्बर, १९५३ को अपने अंग्रेजी पत्र में श्री गुरुजी लिखते हैं :-

आपकी ''The Myth of St. Thomas Exploded' नामक पुस्तक पढ़ी। आपने ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह संपूर्णतया सिद्ध कर दिया कि केरल में सेन्ट थॉमस का कार्य-कल्पित है और यह सत्य का कोई आधार नहीं।

एक सच्चे इतिहास- अन्वेषक की भूमिका निभाते हुए ईसा के नाम से स्थानीय ईसाई मिशनरियों के प्रक्षोभक प्रचार के बावजूद आपने किसी की भी कटु आलोचना न करते हुए अत्यंत संतुलित भाषा में विषय की जो चर्चा की है, वह बहुत कठिन कार्य है। इसके लिए मैं आपका अभिनन्दन करता हूँ।

इस सत्य के आविष्कार के बाद भी ईसाई मिशनरियों का हिन्दू समाज की बदनामी करने का तथा राष्ट्रीय भावना के विरुद्ध विदेशी मत-प्रचार का कार्य बंद नहीं होगा। इसके लिए लोगों के पास जाकर उन्हें समझाते हुए उनका दैनिक जीवन कठिनाइयों से मुक्त कर अधिक सुकर बनाने की आवश्यकता है।

डॉ जॉन की मृत्यु पर संवेदना :-

- श्री बी. राजगोपालाचारी, चेन्नै (२४ दिसम्बर १६५८)

अपने प्रवास के समय उज्जैन में मुझे अपने प्रिय मित्र डॉ. जॉन की आकस्मिक मृत्यु का समाचार मिला। इस हानि एवं दुःख का प्रमाण शब्दातीत है। कुछ महीने पहले ही आपके यहाँ उनसे भेंट हुई थी। हमारे कार्य के लिए एक विश्वसनीय आधार देने वाला सुयोग्य मित्र मिलने से मैंने स्वयं को धन्यवाद भी दिया था। किन्तु दैव हमारे लिए अति कठोर बना, अतः नतमस्तक होते हुए यह आघात मनःशांति एवं धैर्य के साथ सहना होगा। आपने तो बचपन का साथी खोया अतः आपकी वेदना मै समझ सकता हूँ।

पूजा-पद्धति के भारतीयकरण से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है सम्पूर्ण चर्च का और ईसाई धर्म-प्रचारकों का भारतीयकरण। पूजा-पद्धति का भारतीयकरण तो धर्म परिवर्तन की गति को तीव्र करने के लिए रणनीति भी हो सकती है। पहले भी ऐसा हो चुका है। १६ वीं सदी में रॉबर्ट-डी. नोबिली नामक एक यूरोपीय धर्मप्रचारक आया। उसने ब्राह्मणों का भेष धारण कर लिया था। वह यज्ञोपवीत भी पहनता था। स्वयं को ईसाई ब्राह्मण कहता था। 'क्रिस्तवेद' का प्रचार भी करता था। यह सब उसने किया, जो भोले-भाले धर्मनिष्ठ हिन्दुओं को धर्मपरिवर्तन के जाल में फँसाने के लिए हो सकता है। इस नये प्रयास के पीछे भी वही चाल हो। आवश्यकता तो यह है कि वे विदेशी धर्म-प्रचारकों को आमन्त्रित करना बंद करें। विदेशों से आर्थिक सहायता न लें और विदेशी सभ्यता और संस्कृति के प्रति अपनी भक्ति समाप्त करें। आखिर भारत में जहाँ-जहाँ ईसाई धर्म प्रचार सफल हुआ है, वहाँ-वहाँ पृथकतावादी आंदोलन क्यों खड़े होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर अपने मन में खोजना होगा।

इस्लामी आघातों का परिणाम

१६६१ के संघ शिक्षा वर्ग में भाषण करते हुए श्री गुरुजी प्रबोधन करते हैंः-

''अरब समाज पहले से ही आक्रामक स्वभाव का था। मुहम्मद पैगम्बर के जन्म से उनको एक नई प्रेरणा मिली। इस्लाम मत के प्रसार के लिए उन्होंने शस्त्र उठाये और उस बहाने से आजू-बाजू के प्रदेशों पर कब्जा करना शुरू कर दिया। उनका पहला उत्साह इतना दुर्दमनीय था कि शस्त्र के बल पर यहूदियों को परास्त किया। भूमध्य सागर और अफ्रीका को पूरी तरह से अपने काबू में किया। शक्तिशाली रोमन साम्राज्य को भी नष्ट करके बगदाद में खलीफा की गद्दी स्थापित की, फिर पश्चिम यूरोप की तरफ अपना मोर्चा बढ़ाकर ग्रीस, रूस, स्पेन को जीता। तत्पश्चात् सुवर्णभूमि भारत की ओर अपनी कुदृष्टि डाली। सिंध-मार्ग से दाहिर उनके आक्रमण लौटाता रहा। परन्तु अंतर्कलह के कारण उसके सेनापति, यहाँ तक कि पुत्र भी विरोध में खड़े हो गये। इसी कारण मुगलों को सफलता प्राप्त हो सकी थी।''

१४ नवम्बर १९६५, दिल्ली के लाल किला मैदान पर हुई सार्वजनिक सभा में श्री गुरुजी मार्गदर्शन करते हैं :-

हमारे देश में मुसलमान समाज रहता है। क्या हम लोग कहते हैं कि उसको निकाल दो? क्या हम कहते हैं कि उसके साथ द्वेष करो? विशुद्ध हिन्दू परम्परा का अभिमान रखने वाले हम लोगों के अन्तःकरण में इस प्रकार के अभद्र विचार कैसे आ सकते है? अगर वे लोग भी आ जाएँगे तो प्रेमपूर्वक आनंद से रहेंगे। शर्त इतनी है कि यह भाव लेकर चलें कि अपनी भारतमाता के कण-कण के लिए अगर प्राण-समर्थन करना पड़ा, तो भी अपने पुनीत कर्तव्य के नाते करेंगे और समग्र समाज के साथ एक-हृदय बनकर अपने समग्र जीवन का वैभव, गौरव और सुख-समृद्धि इत्यादि प्राप्त करने के लिए परस्पर सहयोगी के नाते जुटेंगे। दूसरी कोई शर्त नहीं। उपासना की पद्धति बदलने की शर्त नहीं। ऐसी शर्त हिन्दू नहीं रख सकता।

उनकी प्रेरणा क्या? -

कश्मीर पर किए गए आक्रमण को यदि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में देखें, तो पता चलेगा कि यह कोई आकस्मिक दुर्घटना नहीं है। यह तो एक हजार वर्ष से चलने वाले आक्रमण का एक अध्याय मात्र है।

क्या देश का विभाजन भी उसी पुराने आक्रमण की ही एक कड़ी नहीं है? इस भारतभूमि से हिन्दुत्व का समूलोच्चाटन कर यहाँ इस्लाम की पताका फहराने का स्वप्न क्या विभाजन की माँग करने वाले नहीं देखते थे? कश्मीर भी उनको किस लिए चाहिए? क्या इसलिए कि कश्मीर की भूमि से उन्हें बड़ा प्यार है, आत्मीयता है? हिन्दू के अन्तःकरण में कश्मीर के कण-कण के प्रति जो श्रद्धा है, आत्मीयता है, क्या उसका लेशमात्र भी उनके मन में है? उन्हें कश्मीर इसलिये नहीं चाहिए कि उसके बिना जीवन सूना लगता है। उन्हें कश्मीर इसलिए चाहिए कि बचे-खुचे भारत के उत्तरी सीमान्त पर अपना प्रभुत्व प्रस्थापित करके इस हिस्से को भी हरे झंडे के नीचे ला सकें। (-२२ फरवरी १९५०, इलाहाबाद रोटरी क्लब द्वारा आयोजित सम्मान समारोह में)

- ***(भेंटवार्ता :- 'न्यूयार्क टाइम्स' संवाददाता, लूकस, 13 मई 1966, हैदराबाद में -श्री गुरुजी समग्र, खण्ड 9, पृष्ठ 158)***

''आप कहते हैं- 'मुसलमानों का अपना इतिहास'। इस देश से पृथक उनका इतिहास इस राष्ट्र के द्वारा गौरव के साथ नहीं देखा जा सकता। विशाल संख्या में हिन्दुओं को बलात्कार द्वारा इस्लाम स्वीकार करने को विवश किया गया था। मैं उनके विचार करने के गलत ढंग के कुछ उदाहरण देता हूँ। वे रुस्तम को आदरपूर्वक स्मरण करते हैं। जब उनसे इसका कारण पूछा जाता है, तो वे कहते हैं कि वह हमारा बलशाली पूर्वज था। किन्तु वह उनका पूर्वज नहीं था। वह साहसी था। वह तो मुसलमान भी नहीं था। वह जरथुस्त्र मतावलंबी था। उसका रक्त भारतीय मुसलमानों की धमनियों में नहीं बहता। उनकी धमनियों में तो भारतभूमि के महापुरुषों का रक्त प्रवाहित हो रहा है। वास्तव में मुसलमानों को भारतीय बलशाली महापुरुषों का अभिमान होना चाहिए।

मैं यह नहीं कहना चाहता कि उन्हें हिंदू धर्म में वापस लाने का कार्य किसी दबाव के अन्तर्गत किया जाए। सर्वोत्तम रास्ता यही है कि जो लोग बलात्कार से किसी समय मुसलमान बनाये गये थे, वे अपने मातृधर्म में पुनः लौट आयें। ***किन्तु जिन्होंने इस्लाम का स्वीकार उस धर्म के अध्ययन के उपरान्त उसके प्रति रुचि के कारण किया है तथा जो यह अनुभव करते हैं कि इस्लाम मत उनके अनुकूल आता है अथवा इतने दीर्घकाल***

तक इस्लाम मत में रहने के कारण जिन्हें उससे लगाव हो गया है, वे मुसलमान ही रहें। इसका अर्थ यह नहीं कि वे अपनी आनुवंशिकता को ही खो बैठें, अपने पूर्वजों से ही सम्बन्ध विच्छेद कर लें। उन्हें अपने देशवासियों के साथ झगड़ा भी नहीं करना चाहिए। हम इस्लाम धर्म के विरुद्ध नहीं है। हिन्दू अत्यंत उदार होता है। उसमें वैदिक अथवा अवैदिक सभी के लिए स्थान है। हम जिस बात के विरुद्ध हैं, वह इस देश के मुसलमान की मनोवृत्ति है। यदि कोई तीसरी शक्ति न होती तो भी इस समस्या को बहुत अच्छी तरह सुलझा लेते। मुसलमान हिन्दू धर्म के अंतर्गत उसी प्रकार स्थान ले सकते हैं, जैसे अन्य मतों के लोग।''

(श्री गुरुजी समग्र खण्ड ६, पृष्ठ १५८)

● ***13 मई 1966, 'न्यूयार्क टाइम्स' के संवाददाता से ही वे आगे कहते हैंः-***

सारी कठिनाई यह है कि हिंदू और मुसलमान दो विरोधी गुटों के रूप में देखे जाते हैं। पिछले १५० वर्षों में यह सिद्धान्त खड़ा किया गया है कि वे एक होकर साथ-साथ नहीं रह सकते। हमें उपर्युक्त अशुद्ध विचार को छोड़ना होगा और इस शुद्ध एवं सरल दृष्टिकोण को अपनाना होगा कि हम सब एक ही राज्य के नागरिक हैं। किसी को कोई विशेष सुविधायें प्राप्त नहीं होंगी।

यदि विचार करने का यह दृष्टिकोण अपनाया गया; तो सब ठीक हो जायेगा।

● ६ अप्रैल १६७० को 'पांचजन्य' के संपादक श्री देवेन्द्र स्वरूप के साथ साक्षात्कार में श्री गुरुजी पूछते हैं-

मुसलमानों का धर्म-परिवर्तन करने की बात किसने कही, कब कही? कम से कम मुझे तो उसका पता नहीं। मैंने सदैव कहा है कि विश्व में हिन्दू ही एकमेव ऐसा समाज है जो सब प्रकार की उपासना पद्धतियों का सत्कार करता है और उनका सम्मान करने के लिए प्रस्तुत है। क्योंकि, हिन्दू की ऐसी मान्यता है और यह उसके सम्पूर्ण आध्यात्मिक चिन्तन का निष्कर्ष है कि भगवान तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं। जो मार्ग जिसे जँचता है वही उसके लिए अनुकूल और श्रेष्ठ भी है। अतः हिन्दू समाज ने अपने भीतर एवं बाहर उपासना करने की मनचाही पूर्ण स्वतन्त्रता सदैव दी, आगे भी देगा। केरल में ईसाई शरणार्थी के रूप में आये, वहाँ के हिन्दू राजा ने उन्हें शरण दी। बसने के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ दीं, किंतु क्या उन पर धर्म-परिवर्तन की शर्त लगायी?

क्या यह विचित्र बात नहीं कि भारतीय मुसलमान अरबी इतिहास के नामों को अपनायें। ईरान के ऐतिहासिक पुरुष रुस्तम और सोहराब को अपनाने में संकोच न करें। तुर्किस्तान के महापुरुषों के नाम पर अपने नाम रखें, किंतु अपने भारतीय पूर्वजों, जैसे राम, कृष्ण, चंद्रगुप्त और विक्रमादित्य के नामों के प्रति घृणा रखें। आखिर इंडोनेशिया भी तो एक बड़ा मुस्लिम देश है। किन्तु वहाँ के मुसलमानों ने अपनी ऐतिहासिक परम्परा, संस्कृति व भाषा से संबंध विच्छेद नहीं किया। वहाँ मुस्लिम होते हुए भी 'सुकर्ण' और 'रत्नादेवी' जैसे नाम हो सकते हैं। वहाँ की विमान-सेवा का नाम भगवान विष्णु का वाहन 'गरुड़' हो सकता है, तो क्या इससे वे मुसलमान नहीं रहे?

मैं तो यहाँ तक सोचता हूँ कि यदि भारतीय मुसलमान हजरत मुहमद के उपदेशों को ही समझने का यत्न करें, तो न वे केवल उनके अच्छे अनुयायी बन सकेंगे, अपितु स्वयं को 'अच्छे राष्ट्रीय एवं श्रेष्ठ भारतीय भी बना सकेंगे।

● 'इलस्ट्रेटेड वीकली' के संपादक खुशवन्त सिंह से मुम्बई में १७ नवम्बर १६७२ को हुई भेंटवार्ता में श्री गुरुजी स्वीकारते हैंः-

मुझे रंचमात्र भी संदेह नहीं है कि भारत और पाकिस्तान के प्रति मुसलमानों में जो दोहरी निष्ठा है, उसके लिए ऐतिहासिक कारण ही उत्तरदायी हैं और इस बारे में मुसलमान और हिन्दू समान रूप से दोषी हैं। विभाजन के बाद उन पर जो आपत्तियाँ आईं और उनमें असुरक्षा की जो भावना निर्माण हुई, वह भी इसका एक कारण है। फिर भी कुछ लोगों की गलती के लिए सम्पूर्ण समाज को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

.. आपके सुझाव का क्रम बदलकर मैं चाहूँगा कि उनकी निष्ठाओं को प्रेम से जीतना ही मुसलमानों के प्रति एकमेव सही नीति है। जमात-ए-इस्लामी का एक प्रतिनिधि मण्डल मिलने आया था। मैंने उनसे कहा कि मुसलमानों को यह बात भूल जानी चाहिए कि उन्होंने भारत पर राज्य किया था। विदेशी मुस्लिम देशों को उन्होंने अपना घर नहीं समझना चाहिए और भारतीयता के मुख्य प्रवाह में उन्हें सम्मिलित हो जाना चाहिए।

उन्हें सब बातें समझानी होंगी। मुसलमान जो कुछ करते हैं, उससे कभी-कभी क्रोध आता है। किन्तु रक्त की प्रकृति में दुर्भाव दीर्घकाल तक नहीं रहा करता। समय में घावों के भरने की महान क्षमता है। मैं आशावादी हूँ और मुझे लगता है कि हिन्दुत्व और इस्लाम एक दूसरे के साथ रहना सीख लेंगे।

- **डॉ सैफुद्दीन जिलानी से वार्तालाप, 30 जनवरी 1971 कोलकाता**

डॉ जिलानी : हिन्दू और मुसलमानों के बीच आपसी सद्‌भावना बहुत है, फिर भी समय-समय पर छोटे-बड़े झगड़े होते ही रहते हैं। इन झगड़ों को मिटाने के लिए आपकी राय में क्या किया जाना चाहिए?

श्री गुरुजी : आप अपने लेखों में इन झगड़ों का एक कारण हमेशा बताते हैं। वह कारण है गाय। दुर्भाग्य से अपने लोग और राजनीतिक नेता भी इस कारण का विचार नहीं करते। परिणामतः देश के बहुसंख्यकों में कटुता की भावना उत्पन्न होती है। मेरी समझ में नहीं आता कि गोहत्या के विषय में इतना आग्रह क्यों है? इसके लिए कोई कारण नहीं दिखाई देता। इस्लाम-धर्म-गोहत्या का आदेश नहीं देता। पुराने जमाने में हिन्दुओं को अपमानित करने का वह एक तरीका रहा होगा। अब वह क्यों चलना चाहिए?

डॉ जिलानी : आपकी राय में आपसी सामंजस्य की दिशा में तत्काल कौन से कदम उठाए जाने चाहिए?

श्री गुरुजी : व्यापक पैमाने पर धर्म की यथार्थ शिक्षा देना एक उपाय हो सकता है। राजनीतिक नेताओं द्वारा समर्पित आज जैसी धर्महीन शिक्षा नहीं, अपितु सच्चे अर्थों में धर्म-शिक्षा लोगों को इस्लाम व हिन्दू धर्म का ज्ञान कराए! सभी धर्म मनुष्य को महान, पवित्र और मंगलमय बनने की शिक्षा देते हैं। यही लोगों को सिखाया जाए।

दूसरा, जैसा हमारा इतिहास है, वैसा ही हम पढ़ाएँ। आज जो इतिहास पढ़ाया जाता है, वह विकृत रूप में पढ़ाया जाता है। मुस्लिमों ने इस देश पर आक्रमण किया हो, तो वह हम स्पष्ट रूप से बताएँ, परन्तु साथ ही यह भी बताएँ कि वह आक्रमण भूतकालीन है और विदेशियों ने किया है। मुसलमानों से यह कहें कि वे इस देश के हैं और ये आक्रमण उनकी विरासत नहीं है।

डॉ. जिलानी : .. क्या आपको ऐसा नहीं लगता कि अपने देश का जातीय बेसुरापन समाप्त करने का उपाय ढूँढने में आपको सहयोग दे सकें, ऐसे मुस्लिम नेताओं की और आपकी बैठक आयोजित करने का अब समय आ गया है? ऐसे नेताओं से भेंट करना क्या आप पसंद करेंगे?

श्री गुरुजी : केवल पसंद ही नहीं करूँगा, ऐसी भेंट का मैं स्वागत करूँगा।

इस्लाम-पंथ-अनुयाइयों को या उनके सम्बन्ध में श्री गुरुजी द्वारा पत्र-लेखन के माध्यम से 'संत हृदय नवनीत समाना' का परिचय देते हुए एक सच्चे युगदृष्टा एवं राष्ट्रनिर्माता की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई गई है।

आध्यात्मिक क्षेत्र में सब समान

- ***श्री विजय राव वाडेकर, पुणे, 10 अप्रैल 1966***

आप श्री साईं महाराज के भक्त हैं, उत्तम है, आध्यात्मिक क्षेत्र में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई नामों का महत्त्व नहीं, यह श्रेष्ठ पुरुषों का कथन है। जहाँ मन को शांति मिलेगी, विकारों पर विजय प्राप्त करने की शक्ति मिलेगी, मन संतुलित होगा, निर्लिप्तता से स्वार्थ-रहित होकर जीवमात्र के प्रति ईश्वर का निवास अनुभव कर कर्तव्य करने की अखण्ड प्रेरणा अंतःकरण में विद्यमान रहेगी, वहाँ पूर्ण श्रद्धा रखकर स्वयं की सच्ची उन्नति करना उचित है।

मनुष्य को जन्म से अनेक कर्तव्य प्राप्त होते हैं। .. ये कर्तव्य पूर्ण करते समय, अखिल मानवों के प्रति, जीवमात्र के प्रति, चराचर के प्रति ऐक्य ज्ञान (समबुद्धि) से विशुद्ध प्रेम ..आपको श्री साईं महाराज पर निष्ठा रखकर वह सब प्राप्त हो रहा है, तो वह भक्ति अत्यंत उचित है। .. स्वधर्म से वंचना करने को भी अभिजात साक्षात्कारी महापुरुष नहीं कहता, अपितु स्वधर्म उत्तम रीति से पालन करने की प्रेरणा देता है। अतः आप यह कल्पना भी अपने मन को न छूने दें कि साईं महाराज की भक्ति करने से आप हिन्दू धर्मनिष्ठ नहीं रह जाते।

मजहब नहीं, मानव लड़ते हैं

- ***श्री गोपाल, चेन्नई 26 दिसम्बर, 1971 (अंग्रेजी)***

पवित्र कुरान के कुछ अंश, जो आपने कृपा करके मेरे पास भेजे थे, प्राप्त हुए। मैं आपका अत्यंत आभारी हूँ। वैसे तो मजहब आपस में नहीं लड़ते और किसी न किसी बहाने मानव-समूह ही लड़ते हैं। मन पर मजहबों की शक्तिशाली पकड़ के कारण उन समुदायविशेषों को परस्पर संघर्ष छेड़ने में मजहब का बहाना अत्यंत उपयोगी व सुविधाजनक रहता है।

हम आशा करें कि परमात्मा की कृपा से मानवीय हृदय में सद्भावना का उदय होगा।

सभी पवित्र पर्वों से भगवान की भक्ति

- ***श्रीमान महमद रफी जी, दिल्ली,*** 03.03.1970

ईद-उल्जुहा तथा होली के पावन पर्व के उपलक्ष्य में आपने बधाइयाँ प्रकट की हैं।

.. सभी पवित्र पर्व, किसी भी मत के क्यों न हों, मानव मात्र को भगवान की भक्ति उत्कटता से करने का स्मरण करा देते हैं। उनमें से कुछ विचित्र प्रथाएँ भी बन जाती हैं। परन्तु उनसे मूल शुद्ध हेतु को पृथक कर ग्रहण करने से सबका कल्याण हो सकता है। आपके पत्र से यही शुद्ध भाव गोचर हो रहा है, जिसके लिए आपका हार्दिक अभिनंदन करता हूँ।

मुस्लिम नवदम्पत्ति का अभिनंदन

- ***श्री अनवर अली देहलवी, दिल्ली*** 05.09.1972

प्रिय बंधु चि. श्री आसिफ अली तथा उनकी नवविवाहिता चि. सौ. साहीन सुलताना का स्वागत तथा अभिनन्दन करने के लिए आयोजित कार्यक्रम का निमन्त्रण आज मिला। बहुत आनन्द हुआ। यद्यपि मैं प्रत्यक्ष उपस्थित नहीं हो सकता हूँ, नवदम्पत्ति के प्रति मेरी शुभकामनाएँ समर्पित कर, उन्हें सब प्रकार से सुखी, समृद्ध, सुदीर्घ आरोग्य प्राप्त हो, धर्म तथा राष्ट्र सेवा में उनकी नित्य उन्नति हो, इस हेतु पर कृपालु श्री भगवान के पास प्रार्थना करता हूँ।

डॉ. एस जिलानी की मृत्यु पर संवेदना

- **डॉ. सुजित धर, कोलकाता**, 24.11.1968

मेरे प्रिय मित्र डॉ. सैफुद्दिन जिलानी के १७.११.६८ को देहान्त का समाचार मिला। मुझे गहरा आघात लगा। मुझे आश्चर्य है कि मुझे आपके द्वारा अथवा मेरे अन्य किसी सहयोगी द्वारा इस बारे में उस समय कुछ अवगत नहीं कराया गया, जब अक्टूबर के अंतिम सप्ताह और इस माह के प्रथम तीन दिन हमारी भेंट बम्बई में हुई थी। जो भी हो, अब सब कुछ समाप्त हो चुका है। अब मेरी ओर से एक कर्तव्य का पालन किया जाना है, वह है विछोह-प्राप्त पत्नी व बच्चों से मिलना और मेरी ओर से शोक-संतप्त परिवारजनों के प्रति गहरी सहानुभूति एवं सांत्वना प्रकट करना। मैं गतात्मा के लिए प्रार्थना करता हूँ। सर्वशक्तिमान परमेश्वर उन्हें शांति और आशीर्वाद प्रदान करें। मुझे आशा है कि अपने निकट और सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध उनके बच्चों से भी बनाए रखेगें।

कारीगर श्री हकीम भाई की चिंता

- **श्री उत्सव लाल गुप्ता, जोधपुर (राजस्थान), 25 मार्च** 1961

.. नागपुर में परम पूजनीय डॉ. साहब के स्मृति-मंदिर का काम करने के लिए श्री हकीम भाई यहाँ है। उन्होंने बड़े परिश्रम, लगन तथा कुशलता से काम चलाया है।

उनके निवास स्थान में उनकी कुछ भूमि पर नगरपालिका अधिकार करने की चेष्टा में है तथा नागौर जिला प्रमुख (कलेक्टर) के पास वैसा सुझाव दिया गया है। इस भूमि का नगर पालिका ने ले लेना (नगर पालिका द्वारा ले लिया जाना-संपादक) श्री हकीम भाई के पूरे परिवार के लिए बहुत हानिकारक होने की संभावना है। अतः किसी योग्य व्यक्ति के द्वारा कलेक्टर साहब को समझाकर भूमि बचाई जाए, यह उचित होगा।

श्री हकीम भाई यहाँ काम में लगे हैं। उनके घर पर उनके वृद्ध पिताजी ही हैं। वे बहुत चिंतित हैं। अतः आपके उपर यह काम सौंपना ही मुझे आवश्यक प्रतीत होता है।

दृष्टव्य -

इन पंक्तियों के लेखक को 'राष्ट्रधर्म' मासिक के संपादक के रूप में 1985 में रेशिमबाग परिसर, नागपुर के व्यवस्थापक श्री बाबुराव वाघ द्वारा यह जानकारी दी गई थी कि श्री गुरुजी के व्यवहार से अभिभूत होकर मुसलमान कारीगर पैर काट देने वाले पत्थर पर भी जूते पहनकर काम नहीं करते थे, अपितु अपने तलवों में पेड़ों की पत्तियाँ बाँधकर काम चलाते थे।

छोटे भाई की भलाई करने में कौन सी बड़ी बात!

- *श्री एम. ए. कादरी, लश्कर ग्वालियर*, 2-09-1966

आपका पत्र आया। मैं प्रवास में था। मैं कभी उधर आया तो आपसे मिलने का आनंद प्राप्त होगा ही। आपकी परीक्षा पूरी होकर आप सफल होंगे, यह इच्छा है। आगे आप किस स्थान पर काम करेंगे, उसकी मुझे सूचना अवश्य भेजिएगा, जिससे मैं उस बाजू जब जा सकूँगा, आपको सूचित कर सकूँगा।

यदि हम लोगों के कारण आपको कुछ सहायता पहुँचती हो, तो उसके लिए बहुत आभारी होने का कारण नहीं है। अपने से छोटे भाई की भलाई के लिए जो हो सके करना ही चाहिए। उसमें कौन सी बड़ी बात है?

पहले अपना घर ठीक करो

● ***श्री एस. करीमवक्ष जी, नेल्लोर***

.. आपने लिखा विचार अच्छा है। हम लोग किसी व्यक्ति से विरोध नहीं करते, न ही ऐसा मानते हैं कि किसी समाज में सब अच्छे या बुरे होते है।

परन्तु हम लोगों ने प्रथम अपने हिन्दू समाज को चारित्र्यवान तथा संगठित रूप देने का काम उठाया है। पहले अपना घर ठीक करो, फिर औरों को उपदेश दे सकोगे, ऐसा जानकार कहते हैं। इसी के अनुसार यह काम चल रहा है। और इसी कारण आपसे व्यक्ति इस नाते प्रेम, बंधुभाव तथा आदर रखते हुए भी प्रत्यक्ष कार्य से आप जैसे सज्जनों को संबन्धित नहीं कर रहे हैं। कुछ काल के पश्चात् यह सुयोग भी प्राप्त होने की हमें आशा है। उसी दृष्टि से अपने हिन्दू समाज में कार्य को द्रुत गति से बढ़ाने का प्रयास चल रहा है।

भारत से एकनिष्ठा अनिवार्य

● ***पं. पद्मकान्त मालवीय, सम्पादक, 'अभ्युदय' इलाहाबाद, 11 अक्टूबर 1964***

आपने लिखा है कि भारत के मुसलमान बंधुओं को हम लोगों की ओर से अभय मिले। वे भारत से एकनिष्ठ रहें, तो उनका मजहब भिन्न होने के मात्र से उनके प्रति किसी प्रकार अन्याय या आपत्तिजनक व्यवहार न हो, वह भारत, भारतीय राष्ट्र-परम्परा तथा भारतीय महापुरुषों के प्रति श्रद्धा, भक्ति, सम्मान तथा राष्ट्रार्थ उद्यमशील रहकर भारत के विरोधियों से उसकी रक्षा के लिए सर्वप्रकार सन्नद्ध होकर खड़ा होना - इन गुणों से परिपूरित होकर जो चले, वह किसी नाम से भगवान् की उपासना करता है, किस पद्धति से करता है, इसका विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

मुसलमान स्वयं सोचे -

● ***विजयवाड़ा में गाँधीवादी श्री रंगा रेड्डी ने श्री गुरुजी से पूछा - 'आपके संगठन में एक भी मुसलमान नहीं है। इसलिए आप और आपका संगठन राष्ट्रविरोधी है।'***

श्री गुरुजी ने कहा :- संघ का स्वयंसेवक होने के नाते मैं इस्लाम-विरोधी नहीं हूँ, न ही रह सकता हूँ। किसी अन्य मत को स्वीकार करने पर किसीको अपनी राष्ट्रीयता नकारने का क्या कारण हो सकता है, यह मेरी समझ में नहीं आता। केवल भारत में रहने वाले मुसलमानों की ही यह विशेषता है। अन्य राष्ट्रों में मुसलमानों का व्यवहार इस प्रकार का नहीं है। .. इस्लाम के विषय में संघ की धारणा यह है कि एक मत के नाते वह इस्लाम का समुचित आदर करता है, परन्तु अपनी राष्ट्रीय संस्कृति के स्थान पर इस्लामी या अन्य किसी संस्कृति व परम्परा को प्रस्थापित करने में वह कभी भी अनुकूल नहीं रहेगा। .. मुसलमानों के संघ-प्रवेश के सम्बन्ध में वैचारिक संघर्ष करने का कोई कारण नहीं है। इस

बारें में स्वयं मुसलमान ही सोचें। एक हिन्दू के नाते मैं किसी को बलात् या प्रलोभन से कुछ भी करने के लिए नहीं कहूँगा।

जैसी कथनी, वैसी करनी -

श्री गुरुजी-सदृश मार्गदर्शकों की उदारता उनके अनुयायियों में तदनुरुप समानुपाती आचरण में कैसे प्रकट होती है, इसकी बानगी और प्रमाण के तौर पर निम्नलिखित उदाहरण देखे जा सकते हैं :-

● बंगाल के वरिष्ठ प्रचारक श्री बंसीलाल सोनी (मालदा) को ५ जून, १९७१ को लिखित पत्र में श्री गुरुजी मत-पंथ-समुदाय के भेदभाव के बिना समभाव से सेवा करने का निर्देश देते हैं :-

.. सभी समाज अपना है, इस कारण सबकी सेवा अपना कर्तव्य है। प्रकृति-प्रकोप की चपेट में सब आते हैं, आए हैं। अतः सेवा करते समय मनुष्य-मनुष्य में भेद करना उचित नहीं होगा, यह अपना स्थायी सिद्धान्त है।

● एक अन्य प्रसंग से भी श्री गुरुजी के संत-सुलभ मानवीयता के दर्शन किए जा सकते हैं। वे कहते हैं- 'दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के कारण अपने मुसलमान बंधु पाकिस्तान की ओर जा रहे थे। अन्न-पानी नहीं था, गटर का पानी पीना पड़ रहा था, लोग हैजे से मर रहे थे। मेरे सामने एक व्यक्ति अकस्मात मर गया। मेरे मुँह से स्वभावतः निकला- अरे रे ! मेरा सह-प्रवासी बोला- अच्छा हुआ, एक कम हो गया। मैंने उससे कहा- एक व्यक्ति मर गया और तू कहता है, अच्छा हुआ ! अपने धर्म की सीख, सभ्यता, तत्त्वज्ञान और मानवता का कुछ ज्ञान है कि नहीं ?

● **'विचार नवनीत'** (पृष्ठ १३४) :- श्री गुरुजी मत-पंथ-सम्प्रदाय संबंधी अपने दृष्टिकोण की पुनर्पुष्टि करते हुए कहते हैं, 'हम इतने क्षुद्र नहीं कि केवल पूजा का प्रकार बदल जाने से कोई व्यक्ति इस भूमि का पुत्र नहीं रहता। हमें ईश्वर को किसी भी नाम से पुकारने में कोई आपत्ति नहीं है। हम संघ के लोग पूर्णरूपेण हिन्दू हैं, इसलिए हममें प्रत्येक पंथ और सभी धार्मिक विश्वासों के प्रति सम्मान का भाव है। जो अन्य पंथों के प्रति असहिष्णु है, वह कभी भी हिन्दू नहीं हो सकता।

किंतु अब हमारे सामने प्रश्न यह है कि जो मुसलमान और ईसाई हो गए हैं, उनका भाव क्या है ? निस्संदेह वे इसी देश में पैदा हुए हैं, किन्तु क्या वे इसके प्रति प्रामाणिक हैं ? इस मिट्टी के प्रति ऋणी हैं ? क्या वे इस देश, जहाँ उनका पालन-पोषण हुआ है, के प्रति कृतज्ञ हैं ? क्या वे अनुभव करते हैं कि वे इस देश और इसकी परम्पराओं की संतति हैं और इसकी सेवा करना उनके भाग्य की धन्यता है ? क्या उसकी सेवा वे अपना कर्तव्य मानते हैं ? परंतु हम देखतें है कि धर्म-परिवर्तन के साथ ही उनकी राष्ट्र के प्रति प्रेम व भक्ति की भावना समाप्त हो गई है। यहीं तक नहीं, वरन् उनमें तो देशके शत्रुओं के साथ अभिन्नता की अनुभूति भी विकसित हो गई है। वे अपनी पवित्र भूमि के रूप में किन्हीं अन्य देशों की ओर देखते हैं। वे लोग अपने को शेख और सैयद कहते हैं। शेख और सैयद तो अरब की जातियाँ हैं। ये लोग कैसे इस प्रकार का अनुभव करने लगे कि ये उनके वंशज हैं ? इसका कारण है कि उन्होंने अपने इस देश से आबद्ध करने वाले सभी पूर्व पारम्परिक राष्ट्रीय संबंध-सूत्र काटकर अलग कर लिये हैं और मानसिक रूप से अपने को आक्रान्ताओं से एक कर लिया है। वे आज भी यही सोचते हैं कि वे केवल इस देश को विजय करके यहाँ राज्य स्थापित करने आए हैं। हम कहते हैं कि यह बात केवल धर्म-परिवर्तन की ही नहीं है, उनके राष्ट्रीय तादात्म्य में भी परिवर्तन आ गया है। अपने मातृराष्ट्र को संकट में छोड़कर शत्रु से मिल जाना राष्ट्रद्रोह नहीं, तो और क्या है ?

● **2 नवंबर 1972 को ठाणे (मुम्बई)** में देश भर के संघ-विभाग प्रचारकों के साथ प्रश्नोत्तर कार्यक्रम में श्री गुरुजी आलोचकों को चुनौती देते हुए कहते हैं, 'कोई एक भी उदाहरण तो दिखा दे, जब अन्य मतावलंबी को हमने कभी कष्ट दिया। हमने उनका सम्मान किया, उन्हें स्थान दिए, उनके प्रार्थना-मंदिर बनाए। इन उदाहरणों के बाद भी यदि कोई कहता है कि हिन्दू संकुचित है, तो वह दुष्टबुद्धी से कहता है।

ईसाई, मुस्लिम, हिन्दू सब साथ-साथ रहने चाहिए- यह भी केवल हिन्दू ही कहता है, मुसलमान या ईसाई नहीं। हमारा किसी उपासना पद्धति से द्वेष नहीं, परंतु राष्ट्र के विरोध में जो भी खड़ा होगा, फिर वह प्रत्यक्ष अपना पुत्र ही क्यों न हो, तो अहल्याबाई और छत्रपति शिवाजी महाराज के समान व्यवहार का आदर्श हमारे यहाँ है। तब राष्ट्रविरोधी यदि अन्य मतावलंबी हुआ, तो उसके साथ भी वैसा ही व्यवहार करेंगे, यह कहने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए।' (श्री गुरुजी समग्र खण्ड २, पृष्ठ ३२६)

● श्री गुरुजी ने जीवन के अंतिम चरण में अपनी बीमारी के दौरान मार्च-अप्रेल १९७३ में भी गुलाबराव महाराज पर एक शोधप्रबंध-सम्बधी मार्गदर्शन करते हुए जो विचार प्रकट किये, वे विभिन्न मत-पंथों के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण को समझने में अति सहायक होंगे :-

'उन्होंने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के तथा धर्मों के तत्त्व-विचारों को अद्वैत सिद्धांत पर रखकर कठोर युक्तियों से परास्त किया, किन्तु भारतीय समाज के भिन्न-भिन्न घटकों में परस्पर विद्वेष उत्पन्न न हो, इसलिए समन्वय भी कर दिखाया और बाद में अंतिम वेदान्त-सिद्धान्तों का तौलनिक तथा समतोल रीति से प्रतिपादन किया।'

'भारतीय समाज के भिन्न-भिन्न घटक या सम्प्रदाय परस्पर द्वेष या झगड़ा न करें, इसलिए बहुत महत्त्वपूर्ण समन्वय विचार सामने रखा। यह अपने संपूर्ण देश के बंधुभाव को तथा राष्ट्रीय एकात्मता को श्री गुलाबराव महाराज जी का दिया हुआ तात्विक अधिष्ठान है। इस समन्वय विचार के बहुत दूरगामी परिणाम हो सकते हैं। इस्लाम, ईसाई, पारसी, बौद्ध इत्यादि उपासना-पद्धतियों के प्रमुख तत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से प्राचीन हिन्दू संस्कृति में यानि आर्य संस्कृति में थे, यह महाराज ने सिद्ध किया है। इस विचार की दिशा बहुत ही मूलगामी है।

इसके अनुसार प्रबोधन हुआ, तो भिन्न-भिन्न दिखाई देने वाले भारतीय समाज की एकात्मता का अनुभव तो करेंगे ही, साथ ही विश्व के सर्व धर्मों के समाज परस्पर सामंजस्य से रह सकेंगे। .. इस महत्त्वपूर्ण विषय का विस्तार व सूक्ष्मता से अध्ययन होकर विश्व के सामने अच्छी तरह से प्रस्तुत होना चाहिए।'

(श्री गुरुजी समग्र, खण्ड १)

● **'विचार नवनीत'** (पृष्ठ १७२) में श्री गुरुजी का कथन है : इस विशाल भूमण्डल पर केवल हिन्दू विचारधारा ने ही सम्पूर्ण मानव-सभ्यता में एक ही सर्वशक्तिमान् की सर्वव्यापकता को स्वीकार किया और सभी पंथों व उपासना पद्धतियों को स्वाभाविक रूप से पुष्पित-पल्लवित होने का अवसर प्रदान करने के साथ-साथ उनको ससम्मान प्रोत्साहन एवं संरक्षण भी दिया है। ..

● **मत-पंथों-सम्बन्धी** अंतिम लक्ष्य की चर्चा करते हुए श्री गुरुजी, विचार नवनीत (पृष्ठ १७६) पर कहते हैं- व्यावहारिक धरातल पर राष्ट्र में एकात्मता लाने के लिए विविध पद्धतियों की समाप्ति नहीं, बल्कि अनन्यता (एकमेवता) व असहिष्णुता का अवसान अपेक्षित है। ..मत-पंथों की सुरक्षा व सम्मान करते हुए उन्हें इस राष्ट्र के साथ एकाकार करने का संस्कार देने की व्यवस्था करनी होगी।'

● १० मार्च, १९५४ को सिंदी (महाराष्ट्र) में संघ के जिला-प्रचारकों के अखिल भारतीय कार्यक्रम में भी गुरुजी द्वारा प्रदत्त प्रबोधन परम प्रेरक है- मानव की एक ही स्थिति का विचार भी हमारे यहाँ है। किंतु, वह तभी संभव है, जब मानव अतिमानव के रुप में विकसित हो जाए। जब तक मानव, मानव रहेगा, जब तक उसकी भिन्न गुण-प्रकृति बनी रहेगी और जब तब गुण वैशिष्ट्य को प्रकट करने वाला तथा उसके अनुसार चलने वाला राष्ट्र रहेगा, तब तक अपनी सम्पूर्ण शक्ति और बुद्धि उसके समन्वय के लिए ही लगनी चाहिए।' और उस बहु-उच्चारित सुप्रसिद्ध श्लोक का सतत् स्मरण करते रहना चाहिए, जो अद्‌भुत सुंदरता से हिन्दू-दर्शन के विविध पंथों में स्वरैक्य एवं एकत्व का समावेश करता है -

यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः
सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथो हरिः।।
(रामभक्त हनुमान, हनुमन्नाटकम्, अंक १ः३)

(वह जिसकी उपासना शैव, 'शिव' मानकर करते हैं, वेदांती जिसे 'ब्रह्म' मानकर उपासते हैं, बौद्ध जिसे 'बुद्ध' और तर्क-पटु नैयायिक जिसकी 'कर्ता' मानकर आराधना करते हैं, एवं जैन लोग जिसे 'अर्हंत' मानकर तथा मीमांसक जिसे 'कर्म' बताकर पूजते हैं- वहीं 'त्रिलोकीनाथ हरि' हमारी इच्छाओं को पूरा करें।) (विचार नवनीत, पृष्ठ १०६)

◆◆◆